काव्य सम्प्रदाय

लेखक
श्री अशोककुमारसिंह
वेदालंकार, प्रभाकर, एम० ए०, एल० टी

प्रकाशक
ओरिएण्टल बुक डिपो
१७०४, नई सड़क दिल्ली
शाखा:—प्रताप रोड, जालन्धर

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ

भूमिका

नियतिकृतनियमरहिता ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

नवरसरुचिरा निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।। मम्मटाचार्य ।।

"यदि मुझे निखिल विश्व मे से एक ऐसा देश, जिसे प्रकृतिदेवी ने अपने अमित वैभव, शक्ति और सौन्दर्य से विभूषित किया है, भू पर स्वर्गोपम रचा है, ढूँढना पडे तो मै भारत की ओर सकेत करूँगा । यदि मुझसे पूछा जाय कि वह कौनसा आकाश-खण्ड है जिसके नीचे मानवीय प्रतिभा ने अपने सर्वोत्तम वरदानो का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया है, जीवन के शाश्वत् एव गूढ़तम प्रश्नों की तह मे पहुँचने का सफल प्रयास किया है और उनमें से कइयो का प्रामाणिक समाधान, जो कि प्लेटो और काण्ट के अध्येताओं तक का ध्यान आकृष्ट कर सके, प्रस्तुत किया है--तो मै भारत की ओर सकेत करूँगा । और यदि मै स्वय ही अपने से प्रश्न करूँ कि हम योरुपवासी, जो कि लगभग समग्रत ग्रीक, रोमन और एक सेमेटिक यहूदी जाति की विचार-धाराओं पर पालित-पोषित हुए है, कौन से 'साहित्य' से उस अनिवार्यरूपेण वाञ्छित स्फूर्ति को प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे आन्तरिक जीवन को अधिक पूर्ण, व्यापक, विश्वजनीन और वस्तुत--न केवल इस जीवन को अपितु परवर्ती शाश्वत जीवन को भी—अधिक मानवीय बना दे—तो मैं पुनरपि भारत का ही निर्देश करूँगा ।"—मैक्समूलर ।

ये उद्गार पौरस्त्य विद्याओ एव साहित्य के विख्यात मर्मज्ञ, पाश्चात्य विद्वान् श्री मैक्समूलर के हैं । किसी भी देश और उसके दार्शनिक मीमासा-शास्त्र और साहित्य के विषय मे इससे अधिक

गोरवपूर्ण शब्दावली का प्रयोग सम्भवत आज तक किसी प्रामाणिक आलोचक द्वारा नही किया गया । उक्त सक्षिप्त सम्मति का महत्त्व इस कारण कही बढ गया है कि यह एक ऐसे विदेशी विद्वान् के दीर्घकालीन अध्ययन का निष्कर्ष है, जिसने अपने जीवन का अधिकाश समय ससार के साहित्यमहोदधि का तुलनात्मक अवगाहन करने मे व्यतीत किया है । आज का स्वतन्त्र भारत इसी साहित्य का एकमात्र उत्तराधिकारी है ।

सस्कृत-साहित्य ससार के प्राचीनतम साहित्य-सग्रहो मे से अन्यतम है । इसके विषय में अब तक, निश्चित रूप से, यह नही कहा जा सकता कि इसमे कितनी सहस्राब्दियो के मनीषियो की चिन्तन-साधना का 'सत्' सञ्चित है । इस अक्षय ज्ञाननिधि की, जैसा कि मैक्समूलर के उद्गारो से स्पष्ट है, आवश्यकता केवल भारत-सन्तान के लिए ही नही, अपितु विश्व के 'मानव' को 'मानवीय' बनाने के लिए भी है । तो एक राष्ट्रीय प्रश्न हमारे सामने आता है—क्या स्वतन्त्र भारत इस दुष्प्राप्य महानिधि को सुरक्षित रख सकेगा ?

आज के मानव का अग्रणी, वह मानव ! और उसकी नवेली सहचरी पाश्चात्य सभ्यता !! कौन नही जानता कि पाश्चात्य सभ्यता का लाडला यह मानव आज अपने वैभव के सर्वोच्च शिखर पर आसीन है ? महायन्त्र-प्रवर्तन की अपार क्षमता और आणविक शस्त्रास्त्रो की कल्पनातीत शक्तिमत्ता के अनुपम वरदानो ने उसके मन में 'प्रकृति-प्रिया' के हठात् वरण की अदम्य आकाक्षा उद्दीप्त कर दी है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस वृद्ध विश्व की चिर अभिलाषा की तृप्ति का वह स्वयवर-समारोह, जिसमे हठीली प्रकृति को 'मानव' के गले मे विजयमाला डालनी पडेगी, सर्वथा निकट आ गया है । ऐश्वर्यो का स्वामी 'मानव' राजसूय यज्ञ की पूर्णाहुति सम्पन्न कर 'शतक्रतु' की पदवी पाने को है, और यह विजय-वैजयन्ती पुष्प-पखुडियो को नभ से बिखेरती हुई फहराना

ही चाहती है । परन्तु अरे ! इस शुभ घडी मे यह शका कैसी ? क्या कहा,—'अधूरा मानव !' हाँ, ग्रीक, रोमन और एक सेमेटिक जाति यहूदी के सम्पूर्ण साहित्य की 'मिश्रित खुराक' पर पोषित होकर भी यह मानव अधूरा ही है । सम्भव है, लक्ष्यभ्रष्ट होकर वह मानवता का ही सहार कर बैठे । तब यह स्वयवर-समारोह विश्व-श्मशान के रूप मे परिणत हो जायेगा ।

तब मानवता की रक्षार्थ भावनाओ के परिष्कार का आयोजन आवश्यक है । विश्व-शान्ति का आधार पारस्परिक सद्भावनाएँ ही हो सकती है । कलात्मक साहित्य, समन्वय-प्रधान दर्शन और 'सर्वभूतहितेरत' वाली आध्यात्मिक विचारधारा भावनाओ को उदात्त बनाने मे अमोघ मानी जा सकती है । यदि शुष्क एव बुद्धिमूलक विज्ञान के अध्ययन ने आज के मानव को हृदयहीन बना दिया है तो कलात्मक साहित्य अपनी मोहक माधुरी से उसमे सच्ची सहृदयता की चेतना फूँक सकता है । यह कहना अतिचार न होगा कि सस्कृत-साहित्य मे मानवीय भावनाओ के परिष्करण की अनुपम क्षमता है । विश्व के दूसरे महान् सत्साहित्यो के समानान्तर सस्कृत-साहित्य मानवीयता के प्रसार मे महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है, इसमे सन्देह नही ।

विश्व और मानवता के लिए सस्कृत का पुरातन साहित्य बडा उपयोगी है, यह माना जा सकता है । परन्तु नवोदित भारतीय राष्ट्र के लिए इसकी क्या महत्ता है ? यह प्रश्न भी गम्भीरता से विचारणीय है ।

सस्कृति भूतकाल की प्रगति का जातीय प्रवाह है, जिसका 'प्रवेग' जाति को भविष्य के पथ पर अग्रसर करता है । इस प्रवाह में वह सभी कुछ शामिल रहता है, जो भूत में जाति के मार्ग में आ उपस्थित होता आया है । और उस 'समग्र' का प्रत्येक अश प्रवाह के 'प्रवेग' से शक्ति

प्राप्त कर उसी प्रवाह को इस प्रकार से 'प्रवेग' प्रदान करता है, जिससे जातीय आचार-विचार की धारा एक सुनिश्चित दिशा मे प्रगतिशील हो उठती है । इस प्रकार सस्कृति का मूल तत्व प्रवेग या "प्रगति के लिए सुनिश्चित आतुरता" है। यह आतुरता 'प्रवाह' की ससवित अथवा एकता पर निर्भर है । यदि जातीय प्रवाह मे ससवित (एकनिष्ठता) न रहे तो जाति छिन्न-भिन्न हो बिखर जाती है। फलत सामूहिक जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है । इसीलिए जातीय उत्थान और प्रगति के लिए सस्कृति की आवश्यकता होती है।

भारतीय राष्ट्र लगभग एक सहस्राब्दिपर्यन्त राजनैतिक अध पतन के महागर्त मे निमग्न रहा। इस महागर्त से हमारे राष्ट्र का उद्धार कैसे हुआ ? यह एक सास्कृतिक एकता की सूक्ष्म शक्ति की विजय की रहस्यमयी कहानी है । भारतीय सस्कृति के प्रवेग मे से तिलक, ऋषि दयानन्द, मालवीय, रवीन्द्र और गाँधी जैसे महापुरुष सामने आये, जिन्होने राष्ट्र के जातीय प्रवाह की अतुलित शक्ति को पहिचान लिया और उसे काम मे लाये, जिसका फल यह हुआ कि आज भारतीय राष्ट्र उत्तप्त भट्टी मे से तपकर निष्पन्न कञ्चन की तरह अवदात होकर नव अरुणोदय के रूप मे जगती के रङ्गमञ्च पर सहसा आ खडा हुआ है। अब उसे मानवीय सस्कृति के विकास तथा आत्म-अभ्युदय के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करना है।

राष्ट्रनायक जवाहरलाल के शब्दो मे यदि कहा जाय तो आज दिन भारतीय राष्ट्र को सर्वोपरि जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है— 'राष्ट्रीय एकता'। परन्तु यह बात सर्वथा सुविदित है कि राष्ट्रीय एकता का आधार होता है 'सास्कृतिक एकता' । यही वह वस्तु है, जिसने असमय में भारतीय राष्ट्र की रक्षा की, जो भारतीय राष्ट्र को राष्ट्र बनाती है, और जो भारतीय राष्ट्र को विश्व-सेवाओ मे गौरव प्रदान करा सकती है। परन्तु दुर्भाग्य से हमारी 'सास्कृतिक एकता' प्रान्तीयता,

पद-लोलुपता, कुनबा-परस्ती और भाषा-विप्लव जैसी महामारियो से आक्रान्त-सी दीख रही है। भौतिक सुखोपभोग और महत्त्वाकाक्षाओ की लिप्सा के कारण भारतवासियो के 'समान-जीवन-दर्शन' के तिरोहित होने का भय उपस्थित हो गया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत 'वर्णाश्रम-मर्यादा', जिसने सहस्रो वर्षो तक इस विशाल-मानव-समूह की नीव मे रहकर काम किया है, आधुनिक प्रजातन्त्र मे पोषण के अभाव में सूखने लगी है। वर्णाश्रम-मर्यादा समाज और व्यक्ति के जीवनो को उचित रूप मे मर्यादित कर एक-दूसरे के प्रति समन्वित करती थी। उसका यह कार्य तो समाप्त हो गया, सिर्फ उसके ध्वसावशेष के रूप मे बचे जाति-पाँति के बन्धनो के जाल ने समाज को कसकर जकड दिया है। इसके अतिरिक्त सास्कृतिक चेतना और मातृभूमि की उपासना के केन्द्रीभूत 'तीर्थस्थान' भी 'सिटी' रूप मे परिणत होते जा रहे है। भौतिक मिथ्याचार ने श्रद्धातत्त्व की सजीवता पर पाबन्दी लगा दी है। भाषा-विप्लव ने तो सास्कृतिक क्षेत्र मे कानन-कानून को चरितार्थ कर रखा है। भारतीय इतिहास मे वह दिन दुर्भाग्य का ही कहा जा सकता है, जिस दिन सस्कृत-भाषा का राष्ट्रीय गौरव समाप्त किया गया। सास्कृतिक एकता की जड मे यह प्रबलतम कुठाराघात था। जब भगवान् बुद्ध ने लोक-बोलियो को मान्यता देकर 'विकार' और 'प्रमाद' के लिए रास्ता साफ कर दिया तो भाषा-विज्ञान के नियमो के अनुसार नित्य-नूतन प्रादुर्भूत होनेवाली बोलियो के दुर्दमनीय प्रवाह ने भारत-भू को एकदम निमज्जित कर दिया। इस विकट परिस्थिति को तीन महापुरुषो ने खूब समझा। इनमे दो सज्जन गुजराती और एक अँग्रेज थे। गुजराती महानुभाव स्वामी दयानन्द और महात्मा गाधी ने सुधार के उपाय के रूप मे सस्कृतनिष्ठ हिन्दी को असन्दिग्ध रूप मे राष्ट्रभाषा स्वीकार कर भाषा-विप्लव की समाप्ति की उद्घोषणा की। अँग्रेज महानुभाव थे— मैकाले साहब। इन्होने भारत मे अँग्रेजी भाषा को नई

बला के रूप में सत्तारूढ कर भाषा की समस्या हल करनी चाही । पर उन्हे सफलता न मिली। कारण स्पष्ट है, मैकाले साहब की धारणा थी—"भारत और अरेबिया का सम्पूर्ण साहित्य योरुप के किसी पुस्तकालय की अल्मारी के एक खाने की तुलना मुश्किल से कर पायेगा।" मैकाले साहब की गलत धारणा के कारण ही ससार की सर्वाधिक विकसित भाषा अँग्रेज़ी, ससार के सर्वाधिक विस्तृत साम्राज्य की शक्ति को पीठ पर पाकर भी, भारत मे स्थायित्व न पा सकी। अस्तु। इधर ऋषि दयानन्द और महात्मा गाँधी के प्रयत्न के बावजूद भी भाषा-विप्लव की विकराल आँधी पूरी तरह शान्त नही हो पाई है, और आज भी साँस्कृतिक एकता के लिए वह सर्वाधिक भय का कारण है।

हमारा युक्ति-क्रम यह है कि राष्ट्रीय एकता के लिए सास्कृतिक एकता अनिवार्य है। इसमे अन्य साधारण बाधाओं के अतिरिक्त भाषा-विप्लव की बाधा सबसे उग्र है। यह वह बिन्दु है, जहाँ पर चोट करने से सास्कृतिक एकता का सिहासन उलट जाता है। भारतीय भाषा-विप्लव के प्रसग मे उर्दू का उत्पात और अँग्रेज़ी का अहकार चिर-स्मरणीय रहेगे। वस्तुतस्तु उर्दू कोई अलग भाषा नही है। उसके वाक्यो का विन्यास और ढाँचा तथा क्रिया-पद सभी हिन्दी-व्याकरण-सम्मत है। उसमें यदि कोई नवीनता है तो केवल अरबी-फारसी के तत्सम शब्दो की। इसका भी कारण है। उक्त देशो से आनेवाले मुस्लिम शासको ने अपने अरबी-फारसी प्रेम को मूर्त रूप देने के लिए हिन्दी मे उन भाषाओ के शब्दो की खुली भर्ती का ऐलान कर दिया जिससे हिन्दी बेचारी का हुलिया ही तब्दील हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि अरबी-फारसी की भरमारवाली जो भाषा उर्दू-रूप मे हमारे सामने आती है, उसमे उन शब्दो की भर्ती का आग्रह उन शासको की विशिष्ट मनोवृत्ति का परिचायक है। स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र क समुन्नत

समय मे शासको की तथाकथित विशिष्ट मनोवृत्ति की समाप्ति हो जाती है और उसके साथ उस मनोवृत्ति के अलङ्करण भी निस्तेज व निर्वीर्य होकर स्वत मूर्छित हो जाते है। अत अब उर्दू भाषा मे विदेशी शब्दो की वैसी भरमार को सम्भवत प्रोत्साहन न मिल सकेगा। तब उर्दू और हिन्दी एक ही रह जाती है।

अब ज़रा अँग्रेजी भाषा के 'अहकार' पर भी विचार कर लेना चाहिये। उर्दू के उत्पात के पीछे कोई ठोस वैज्ञानिक आधार कभी नही रहा। वह केवल कतिपय विदेशी शासको की कमजोरीमात्र थी, जिसे बाद मे कुछ साम्प्रदायिक रग देकर अखाडे मे उतारा गया। वास्तविक रूप से मुस्लिम जनता का, जो हिन्दुओ मे से निकलकर इस्लाम धर्म मे दीक्षित हुई थी, अरबी-फारसी शब्दावली से वैसा कोई लगाव कभी न था। मुस्लिम जनता की यदि कोई स्वाभाविक साहित्यिक परम्परा हो सकती थी तो वह रसखान और जायसीवाली ही थी। इसके विपरीत अँग्रेज़ी भाषा के पीछे एक गौरवपूर्ण तत्त्व है। यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि अँग्रेज़ी भाषा ससार की समृद्धतम भाषाओ मे से एक है। अँग्रेजी शासनकाल मे सस्कृत-भाषा का विकास सर्वथा निरुद्ध और भारतीय लोक-भाषाओ का सीमित किया जा चुका था। ऐसी अवस्था मे अँग्रेज़ी अपने साहित्यिक विकास के पूर्ण यौवन मे भर शासनसत्ता की मदिरा से उन्मत्त हो मोहक लास्य नृत्य कर उठी, जिसने भारतीय विद्वज्जनो के मन को भी मोहित कर लिया। राज्यभाषा होने के कारण इसके उपासको को 'पद' और 'अर्थ' दोनो का लाभ होता ही था। इस सबके कारण भारतीय प्रतिभाओ को निखिल भारतीय रूप मे आकर चमकने का अवसर न मिला। महाकवि रवीन्द्र बगाल के और श्री प्रेमचन्द्र इधर के होकर रह गये। इन प्रतिभाओ का अँग्रेज़ी रूपान्तर भारतीय जन-मानस से बहुत दूर की चीज़ हो जाता था। उसमें शासकीय रौब एव दुरूहता की गन्ध आने लगती थी। जब भारत मे

विचारो के माध्यम के रूप में—अखिलदेशीय रूप से—कोई भाषा न रही तो यहाँ विचार-दारिद्रय और मौलिकता का महा अकाल पड गया। इसे देख लोगो की यही धारणा रह गई कि 'हिन्दुस्तानी अच्छा गुलाम होता है।' इस बढते हुए मर्ज की रोकथाम के लिए महात्मा गाँधी ने ले-देकर उन विषम परिस्थितियो मे 'हिन्दुस्तानी' का आविष्कार किया। परन्तु समय ने सिद्ध कर दिया कि रोगी की प्रकृति के प्रतिकूल दी गई औषध फलवती सिद्ध नही होती। भाषा-विप्लव-काण्ड मे 'हिन्दुस्तानी' का हुडदग एक धमाका बनकर रह गया।

यदि सक्षिप्तरूपेण भारतीय भाषा-विप्लव की अराजकता पर दृष्टि-पात करे तो हमे निम्न विनाशक परिणाम स्पष्टतया लक्षित होगे—

(क) भारतीय सास्कृतिक भाषा सस्कृत अपने चिर-अधिष्ठित सिहासन से पदच्युत कर दी गई। उसका स्थान लेने के लिए शासकीय शक्ति का सहारा लेकर क्रमश फारसी और अँग्रेजी व हिन्दुस्तानी भाषाएँ आईं। पर वे सफल न हो सकी, क्योकि उनके पीछे भाषा-वैज्ञानिक नियमो का बल न था।

(ख) सास्कृतिक भाषा के अभाव मे सास्कृतिक चेतना और प्रतिभा की मौलिकता को फलने-फूलने का माध्यम अनुपलब्ध हो गया। फलत सास्कृतिक दैन्य के लक्षण प्रकट होने लगे और भारत मे मानसिक दासता का जन्म हुआ।

(ग) इन सबके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय स्वरूप में विकार आने लगा।

(घ) व्यावहारिक भाषा का स्थान अँग्रेजी को मिल गया। राष्ट्रीय चेतना प्रान्तीय दाँशकता का रूप धारण कर खण्डित होती गई।

(च) भारतीय समाज कुछ ऐसे समुदायो मे विभक्त हो गया जिनके

मध्य बडी अस्वाभाविक दीवार खडी हो गयी। अँग्रेजी जानने-वालो तथा अँग्रेजी से अनभिज्ञ लोगो के मध्य मिथ्या आडम्बर स्थान पा गया।

(छ) ग्रामीण समाज को मानसिक और सास्कृतिक चेतना की धारा से वञ्चित हो जाना पडा।

आखिर वह दिन भी आया, जबकि भारतीय सविधान मे सस्कृत-निष्ठ हिन्दी को राजकीय भाषा स्वीकृत किया गया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी की सस्कृतनिष्ठता बडे महत्त्व की है। यदि हिन्दी को सस्कृत के आधार पर विकसित न किया गया तो यह भी पूर्ववर्ती प्रयोगो की तरह व्यर्थ होगा। सस्कृत-साहित्य अपनी विविध और समुन्नत परम्पराओ को प्रदान कर हिन्दी को गौरवान्वित कर सकता है। हमारे प्राचीन साहित्य की सर्वोत्कृष्ट देन—भारतीय नव-राष्ट्र के लिए—यही हो सकती है। सस्कृत मे ही वह शक्ति निहित है जो एक सहस्र वर्षो से पथ-भ्रष्ट राष्ट्र को सस्कृति के उस पथ पर डाल सकती है जो राष्ट्रीय गौरव के उपयुक्त है।

इस परिस्थिति मे राष्ट्रभाषा-सेवको पर जो महान् उत्तरदायित्व आ पडा है, उसके प्रति सजग रहने से ही सफलता सम्भव है। यह नितान्त आवश्यक है कि राष्ट्रभाषा के अध्ययन-क्रम के पीछे जो दृष्टि है उसमे मौलिकता एव गाम्भीर्य दोनो आ जाये। सस्कृत माता की सुखद गोद में बगाली, महाराष्ट्री और गुजराती आदि बहिने इस प्रेम से मिल जाये कि मानो पितृगृह मे आकर सगी बहने परस्पर गले मिल गई हो। भारतीय गणतन्त्र की छत्रछाया मे यह स्नेह-सम्मेलन चिरकाल तक सुधारस-धार प्रवाहित कर जन-मन को तृप्त करता रहे।

अँग्रेजी शिक्षा-विशारदो के निर्देश से आधुनिक भारतीय भाषाओ की उच्च कक्षाओ एव संस्कृत भाषा का जो पाठ्य-क्रम निर्धारित था

वह पल्लवग्राही पाण्डित्य को ही जन्म दे सकता था। अब उस अध्ययन मे ठोस गाम्भीर्य आने की आवश्यकता है। इस सबके अतिरिक्त अँग्रेज़ी भाषा को यहाँ से सादर विदा करने से पूर्व उसके अन्दर विद्यमान वैज्ञानिक साहित्य की अपूर्व विभूति को आत्मसात् करने का उपक्रम भी वाञ्छनीय है। आधुनिक वैज्ञानिक साहित्य के बिना सस्कृत, हिन्दी और अन्य सभी देशीय भाषाएँ युग-दृष्टि से अङ्किचन ही है।

इतनी पृष्ठभूमि के पश्चात् अपनी बात भी कहनी आवश्यक है। भारतीय साहित्यिक परम्परा के सम्यगवबोध के बिना किसी भी भारतीय भाषा का अध्ययन अपूर्ण है। अत इस तुच्छ प्रयास मे आधुनिक हिन्दी काव्य-धाराओ को प्राचीन भारतीय काव्य-मतो की शृङ्खला मे रखकर हिन्दी-काव्य की प्रगति को परखने की चेष्टा की गई है। आशा है कि हिन्दी और सस्कृत-साहित्य की उच्च कक्षाओ के अध्येता छात्रो को एक शृङ्खला मे आबद्ध भारतीय काव्य-परम्पराओ को देखने का अवसर मिलेगा। आरम्भ में 'अलङ्कार-शास्त्र' के सक्षिप्त इतिहास को रख दिया है, ताकि विषय की रूपरेखा पहिले ही ज्ञात हो सके।

काव्यमतो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे साधारणरूपेण निम्न तथ्य ध्यान रखने उचित है, ताकि शुद्ध साहित्यिक विवेक का अनुसरण सम्भव हो सके—

(१) प्राचीन भारतीय काव्यमत काव्य के स्वरूप की खोज मे निकले हुए काव्यालोचको द्वारा स्थापित हुए थे।

(२) जबकि आधुनिक हिन्दी के 'वाद' कवियो की रचनाओ को 'श्रेणी-बद्ध' करने से दीखने लगे है।

(३) कुछ 'वाद', जैसे 'प्रगतिवाद', रोटी के राग के रूप मे साहित्यक्षेत्र मे लाये गये है। इनका प्रादुर्भाव न कविकृत है और न आलोचकान्वेषित।

(४) अनेक वाद ऐसे भी है जो विदेशी 'आलोचना-क्षेत्र' से यहाँ आकर अभ्यागत रूप मे उपस्थित है। उनकी उपस्थिति से हमारे आलोचना-साहित्य की शोभा बढी है।

अलङ्कार-शास्त्र के अध्ययन का महत्त्व क्या है और उसके द्वारा किस लक्ष्य की पूर्ति होती है, यह भी विचारणीय है। 'हमारे यहाँ सभी कुछ है' की प्रवृत्ति जिस तरह कूपमण्डूकता की जन्मदात्री है, उसी तरह विलायत के नित्य-नवीन जन्म लेने वाले फैशनात्मक सिद्धान्ताभास भी जिज्ञासु को 'आकाश-बेल' बनाने के लिए काफी है। आवश्यकता इस बात की है कि तर्क-सगत विवेचन के सहारे विचारो की पारस्परिक तुलना, उनका साम्य वैषम्य के आधार पर वर्गीकरण और तदनन्तर शासक नियमो का उदघाटन कर सकने की विश्लेषणात्मक क्षमता का उदय हो, ताकि सिद्धान्तो के वैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण का मार्ग प्रशस्त होता रहे। यह सब, उथले और प्रमाण-पत्र-प्रदायक परीक्षा-पास-मात्रात्मक अध्ययन से न हो सकेगा। डा० देवराज के अधोलिखित अभिमत से सहमत होते हुए हमारी कामना है कि यह तुच्छ प्रयास साहित्य के सतुलित अध्ययन मे सस्कृत-हिन्दी के छात्रो व जिज्ञासुओ को सहायक हो। इसी मे हमारे श्रम की सफलता है—

"जो व्यक्ति काव्य-साहित्य का रस ग्रहण कर सकता है, उसे हम भावुक या सहृदय कहते हैं। ... यदि पाठकों और भावी आलोचकों की रस-ग्राहिणी शक्ति का स्वाभाविक रूप से विकास हो, तो सम्भवतः उसकी इतनी कमी, उसमे इतना विकार, न हो। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि हमारी काव्याभिरुचि का विकास काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी मतमतान्तरों के बीच होता है। हमारे शिक्षकों का उद्देश्य हमारी काव्यशास्त्र की रस ग्रहण करने की शक्ति को प्रबुद्ध और पुष्ट करना नहीं, अपितु कुछ विशिष्ट आलोचना-प्रकारो से परिचित कराकर परीक्षा में

'पास' करना भर रहता है, जिसके फलस्वरूप हमारी वह शक्ति नितान्त विकृत या कलुषित हो जाती है। ... इस विकृति का प्रभाव पाठकों, आलोचकों तथा साहित्यकारों—तीनो पर देखा जा सकता है, और उसका कुफल साहित्यकारों तथा सम्पूर्ण जातीय साहित्य को भोगना पड़ता है।" (साहित्य-चिन्ता, पृष्ठ-सख्या ८)।

[सकेत—यह भूमिका 'काव्य सप्रदाय और वाद' की एकत्रित भूमिका है।]

काव्य-सम्प्रदाय

भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास

"भरत से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ पर्यन्त हमारे देश के अलङ्कार-ग्रन्थो में साहित्यविषयक जैसी आलोचना दीख पड़ती है वैसी ही आलोचना दूसरी किसी भाषा मे आज तक हुई है, यह मुझे ज्ञात नहीं।" डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

भारतीय विद्वानो का काव्यशास्त्र का अनुशीलन समृद्ध, प्रौढ, सूक्ष्म और वैज्ञानिक है। इसके पीछे सहस्रो वर्षो का इतिहास और न जाने कितने मनीषियो की साधना छिपी हुई है। विश्व के पुस्तकालय के प्राचीनतम ग्रन्थो—वेदो मे, स्वय वेद को काव्य कहा गया है। नि सन्देह वहाँ यह 'काव्य' शब्द एक विशिष्ट अर्थ मे ही प्रयुक्त किया गया है—"पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यति।" अर्थात् ए मनुष्य ! तू परमात्मदेव के उस काव्य को देख जो न कभी मरा है और न जीर्ण होता है। काव्य की इससे अधिक मौलिक एव स्पष्ट व्याख्या क्या हो सकती है ! काव्य को अजर-अमर कहकर कला के तत्त्वो को एक स्थान मे समाहृत कर दिया है। इतनी पुष्ट व्याख्या के साथ-साथ काव्य शब्द का प्रयोग असन्दिग्धरूपेण इस बात का ज्ञापक है कि वैदिक ऋषि काव्य के स्वरूप व महत्ता से सम्यक्तया परिचित थे। इसके अतिरिक्त वैदिक ऋचाओ मे भी उत्कृष्ट कोटि का काव्यत्व प्राप्त होता है, यह सब हम यथास्थान देखेंगे।

यद्यपि भारतीयो ने सहस्रो वर्षो की विशाल ग्रन्थ-रत्न-राशि और उसकी अमूल्य ज्ञान-निधियो को अद्भुतरीत्या सुरक्षित रखने की जो तत्परता दिखाई है वह न केवल प्रशसनीय ही है, अपितु आश्चर्यजनक

भी है, तो भी आत्मविज्ञान की अत्यन्त अरुचि के कारण इतिहास के प्रति उनकी उदासीनता साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम को समझने में भारी कठिनाई उपस्थित करती है। प्रचुर एव पर्याप्त इतिहास-सामग्री के अभाव मे अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ तक पैदा हो जाती हैं। विकास-क्रम के उत्साही छात्र की इस असहायावस्था में एकमात्र मार्ग यही है कि वह अपने काव्यशास्त्र के इतिहास का अध्ययन भरतमुनि के 'नाटयशास्त्र' से प्रारम्भ करे।

काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो और विवेचनो के सम्यक् बोध के लिए उसकी ऐतिहासिक क्रम-बद्धता भी आवश्यक है। परन्तु उसे प्राप्त करना अति कठिन है। उसके लिए एतद्विषयक भारी अनुसन्धान-सामग्री और श्रम की अपेक्षा है। जिन कारणो से काव्यशास्त्र का इतिहास दुर्लभ बना हुआ है उनका यहाँ निर्देश कर देना आवश्यक है —

१. विद्वानो के उपलब्ध ग्रन्थ अपने मूल रूप मे प्राप्त नही है। प्रक्षिप्त अश काफी रहता है। फिर मूल और प्रक्षिप्ताश का विवेक करना और भी दु साध्य है। अत इस प्रकार के मिश्रित ग्रन्थो के काल-निर्णय मे त्रुटि रह जाती है। अथच मानवजाति के दुर्भाग्य से पता नही कितने ग्रन्थ अप्राप्त है, और कितने ही विनष्ट होकर सदा के लिए अस्तित्वहीन हो काल के गाल में समा गये। उदाहरणार्थ नन्दिकेश्वर के नाम से कामशास्त्र, गीत, नृत्य और तन्त्रसम्बन्धी पुस्तको का उल्लेख तो मिलता है परन्तु अद्यावधि उनमें से कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही हुआ है।
२. भारतीय विद्वानो ने अपने विषय में प्राय कुछ भी परिचय नही दिया है। अत उनके जीवन, काल, रचित ग्रन्थो और प्रतिपादित सिद्धान्तो का पता पाना कठिन है।
३ अनेक ग्रन्थ ऐसे है, जिनका क्रमश विकास होता रहा है। भरत का 'नाटयशास्त्र' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसे देखकर यह प्रतीत होता

है कि यह अनेक समयो मे अनेक व्यक्तियो द्वारा सम्पादित होता रहा है।

अस्तु ! जब तक काव्यशास्त्र के इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान नही हो पाता तब तक काव्यशास्त्र के अन्तर्गत उठनेवाले साहित्यिक मतो और वादो का समझना व उनका महत्त्व अङ्कित करना नितान्त क्लिष्ट है। फिर भी श्रमशील विद्वज्जनो की कृपा से हमें काव्यशास्त्र के इतिहास का एक मोटा-सा ढाँचा प्राप्त है। इसलिए उस ढाँचे की रूप-रेखा से अवगत होकर हमे अपना काम चलाना पडेगा।

× × ×

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ नाट्यशास्त्र ॥

जब किसी सुनसान बीहड वन के खण्डहर मे किसी भगोडे सम्राट् की रानी के गर्भ से युवराजपदभाक् कुमार का जन्म हुआ होगा तो राज-दम्पती की तात्कालिक मानसिक वेदना, विक्षोभ और निरीहता का अनुमान आज वीणापाणि भगवती देवी को अवश्य ही हो रहा होगा। आधुनिक बुद्धिवादी रिसर्च-स्कॉलर जब महारानी सरस्वती तक के वरेण्य पुत्र "काव्यपुरुष" का जन्म किसी घुनखाई प्राचीन पुस्तक मे खोज निकालते है और 'कुमार' के विकासक्रम को तर्कपूर्ण अनुसन्धानो से शनै शनै उद्घाटित करने चलते है तो उन्हे 'काव्यमीमासा' मे राजशेखर द्वारा वर्णित ब्रह्मा की आज्ञा से सम्पन्न पुत्र-जन्मोत्सव की याद अवश्य आ जाती होगी ! कहाँ वह ऐश्वर्य, कल्पना और वाग्विभूति से सम्पन्न चमचमाता जन्मोत्सव और कहाँ आज की दारिद्र्यपूर्ण पहाड की चढाई जैसी शुष्क खोज ! खैर, यह तो काल-क्रम से प्राप्त सरस्वती-देवी की विपत्ति की कहानी है। आज के इस मँहगे वैज्ञानिक युग में सरस्वती-पुत्र काव्यपुरुष तक के जन्मोत्सव मे कल्पना, और वाग्विभूति जैसी मूल्यवान् वस्तुओ को देख-भाल कर खर्च करना पडेगा। अत

राजशेखर के आलङ्कारिक वर्णन से काव्यशास्त्र का जन्म कब, कहाँ, कैसे हुआ इसका समाधान न हो सकेगा। उसे छोड हम सीधी तरह बुद्धि व तर्क से निशित 'ऑपरेशन' के सभी प्रकार के औजार लेकर प्राचीन ग्रन्थो के किसी आवास-गृह मे पहुँचे और अपने चीर-फाडात्मक कार्य से गुरु-गृहो मे गुरु-मुख से निरन्तर श्रूयमाण किम्वदन्तियो और जनश्रुतियों का मवाद अलग कर शुद्ध तथ्य का रूप सामने लाये। और जिस समय जिस स्थान मे 'काव्यपुरुष' के प्रथम दर्शन हो वही दिन वही स्थान उसकी जन्मतिथि व जन्मभूमि उद्घोषित कर दे। ऐसा करके शायद हम वैज्ञानिक होने का श्रेय प्राप्त कर सकेंगे।

भारतीय वाड्मय की प्राचीनतम उपलब्ध पुस्तक ऋग्वेद है, जो शायद ससार की भी सबसे पुरानी पुस्तक होने के साथ-साथ पद्यबद्ध भी है। उसे स्वय वेद-भगवान् 'काव्य' कहते है, ऐसा हमने ऊपर निर्दिष्ट किया है। भारतीय आस्तिक्य बुद्धि और निष्ठा के अनुसार वेद के अजर-अमर काव्य का कर्त्ता यदि ईश्वर को मान लिया जाय तो उसके कवि होने के लिए प्रमाण चाहिये। वेद-भगवान् हमे ऐसा ही बताते है कि वह—"कविर्मनीषी परिभू स्वयभू"—है। अर्थात् वह क्रान्तदर्शी, मननशील, व्यापक और स्वयमेव होनेवाला है। वेद ने अपनी विचित्र शैली मे हमे यह भी बता दिया कि कवि का लक्षण क्या है?—वह क्रान्तदर्शी, मनन करनेवाला, व्यापक दृष्टि सम्पन्न और 'स्वत जात' होता है। 'निराला' के "कुकुरमुत्ते" की तरह कवि भी पैदा नही किये जाते, वे स्वयमेव हुआ करते है। जिन व्यक्तियो मे इन चार मूलभूत विशेषताओ की सम्पत्ति पृष्ठभूमि के रूप मे विद्यमान होती है वे ही अपनी अनुभूतियो को इस प्रकार व्यक्त कर सकते है जो समान रूप से दूसरो के हृदय मे भी उसी प्रकार की अनुभूतियाँ जगा सकें—अर्थात् उनमे साधारणीकरण की अलौकिक क्षमता वर्तमान रहती है। आधुनिक साहित्य-समीक्षक भी उसे कवि ही बताते है।

ऊपरलिखित कवि के 'काव्य' मे काव्य का "व्यवहारगत रूप" और विवेचन से सम्बन्धित सकेत, दोनो ही मिलते है। यहाँ पर हम क्रमश इसी का उल्लेख करते हैं —

[क] १ निम्न मन्त्र की उपमाओ को कालिदास व अश्वघोष की उपमाओ से मिलान करके देखिये। उनकी चित्रवत् मूर्तविधायिनी क्षमता स्वत स्पष्ट हो जायेगी—

(i) **सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषा समुद्रस्येव महिमा गभीरः।**
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवेव ॥

(इन ऋषियो का तेज सूर्य के तेज की तरह, महिमा समुद्र की गहराई के समान अथाह और बल वायु-प्रवेग के समान होता है। •)

(ii) कालिदास दिलीप का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करते है —
व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध शालप्राशुर्महाभुज ।
(रघु० १।१२)

(सुविशाल वक्षवाला, वृष के समान स्कन्धवाला और शाल वृक्ष के समान प्रलम्बमान बाहुवाला)

(iii) और नन्द-वर्णन मे अश्वघोष कहते है —
दीर्घबाहुर्महावक्षा सिहासो वृषभेक्षण ।
(दीर्घ भुजाओ वाला, महान् वक्षवाला इत्यादि)

२ वैदिक उक्ति की वक्रता की बानगी भी इस अन्योक्ति मे दर्शनीय है —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नभिचाकशीति ॥
॥१,१६४,२८॥

(दो पक्षी—आत्मा और परमात्मा मित्रभाव से मिलकर एक ही वृक्ष—जड प्रकृति—पर बैठे है। उनमे से एक—जीवात्मा—स्वादु पिप्पाली को खाता है—प्रकृति का उपयोग करता है। दूसरा परमात्मा—

केवल द्रष्टा रूप से स्थित है) । इसमे ईश्वर, जीव और प्रकृति सम्बन्धी वैदिक त्रैतवाद का निर्देश है ।

३ प्रकृतिवर्णन मे भी काव्य-दृष्टि रमणीय है । अशनिपात का आलङ्कारिक वर्णन कितना सुन्दर है —

अपोषा अनस सरत्सपिष्टादह बिभ्युषी नियत्सीं शिश्नथद् वृषा ।।

।।४ ३०, १०।।

(जब वृष्टिकर्त्ता वायुरूपी सांड ने इस मेघ-शकट पर प्रहार किया तब उस पर स्थित शकट-स्वामिनी दामिनी भयभीत होकर सचूर्णित मेघ-शकट से भाग निकली) । यहाँ पर वेद का कवि एक शुष्क वैज्ञानिक तथ्य को काव्यमय भाषा मे प्रकट करता है ।

४ आकाश के गायक मेघो के लिए भी कामना है —

सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृत नाम भेजिरे ।।

।।ऋ० ५।५७।५।।

(कल्याणार्थ उत्पन्न ज्योतिर्मय वक्षवाले इन आकाश के गायको की ख्याति अमर हो ।)

[ख] अब काव्य-विवेचन सम्बन्धी कतिपय वैदिक सकेतो को लीजिये —

(i) **सुबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा** ।।यजु० १०।१६।११ ।।

(जिसके विविध स्थलो मे स्थित अन्तरिक्षस्थ लोक-लोकान्तर उपमाभूत है) ।

(ii) **यो अग्नि काव्यवाहन पितॄन्** ।।ऋ० १०।१६ ११।।

(जो कवियो के लिए हितकारी, तेजस्वी ब्रह्मचारी है)

(iii) **विधु दद्राण समने बहूना युवान सन्त पलितो जगार ।**

देवस्य पश्य काव्य महित्वाद्या ममार स ह्य समान ।।१०।५।५५

इन उद्धृत मन्त्रो मे "कवियो के लिये हितकारी काव्य और उपमा सभी मौजूद है ।"

वेदो के सिवाय ब्राह्मणादि ग्रन्थो मे हमारे काम की सामग्री प्राय. नही है। हाँ, महाकाव्य-काल के रामायण और महाभारत मे काव्य के सभी अङ्गो की सुन्दर परम्परा पाई जाती है। रामायण के बालकाण्ड मे नव-रसो का उल्लेख मिलता है —

रसै शृ'गारकरुणहास्यरौद्रभयानकै ।।
वीरादिभि रसैयु'क्त काव्यमेतद्गायताम् ।।

यद्यपि अधिकाश विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते है तो भी रामायण मे काव्यशास्त्र के विवचेन की सामग्री का अभाव नही है। आदि कवि का प्रथम छन्दोच्चारवाला उपाख्यान अवश्य ही काव्य की मूल प्रेरक शक्ति क्या है, इस प्रश्न के उत्तर मे है।

निशम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिद वचनमब्रवीत् ।।
मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वतीसमा ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ।।

क्रौञ्चमिथुन मे से एक का वध हो जाने पर क्रौञ्ची की वियोग-कातर अवस्था ने कवि-हृदय मे वेदना का सञ्चार किया, इस प्रकार उद्वेलित हृदय का उद्गार श्लोक-रूप मे सामने आ गया। कवि स्वय-मेव काव्यस्फुरण की इस घटना का पर्यालोचन कर बताते है कि—

शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोक भवतु नान्यथा—

सिवाय कविता के यह और कुछ भी नही है। दूसरो ने भी इसे इसी रूप मे स्वीकार किया —

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक. श्लोकत्वमागत. ।।

।। ध्वन्यालोक ।१।५।।

काव्यालोचन के सिद्धान्तो की मूलभूत समस्या, जो भारतीय चिन्तको को सदा सताती रही है, यही है कि काव्य की आत्मा क्या है? सभी प्रश्न इस एक ही प्रश्न के समाधान की प्रतीक्षा मे है। आदिकवि ने

अपनी तात्त्विक दृष्टि से इसका व्याख्यान सर्वथा मौलिक ढग से कर दिया। यही व्याख्यान हमारे काव्यालोचन की आधारभूत भित्ति बना। इसी कारण वाल्मीकि को आदिकवि कहा गया। डा० नगेन्द्र के अनुसार उक्त व्याख्यान से निम्न काव्य-सिद्धान्त निष्कर्ष रूप से हमे प्राप्त होते है —

(i) काव्य की मूल प्रेरणा भावातिरेक है। सैद्धान्तिक शब्दावली मे काव्यात्मा भाव या रस है।
(ii) काव्य, अपने मूल रूप में, आत्माभिव्यक्ति है।
(iii) कवि रसस्रष्टा होने से पूर्व रस-भोक्ता है।
(iv) भावोच्छ्वास और छन्द का मूलगत सम्बन्ध है।

कहना न होगा कि उक्त चारो सिद्धान्त भारतीय काव्यालोचन के भव्य भवन के आधार-स्तम्भ बन गये है।

महाकाव्यो के पश्चात् शब्दशास्त्र के ग्रन्थो मे भी काव्य-सिद्धान्तो का प्रासङ्गिक व्याख्यान मिलता है। यास्काचार्य ने वैदिक कोष निघण्टु और निरुक्त में सम्पूर्ण क्रियाओ का षड्भावविकारो मे समाहार, शब्दो का नित्यत्व प्रतिपादन, देवताओ के भक्तिसाहचर्य-प्रकरण मे छन्दो का विभाजन एव निर्वाचन और उपमाओ का विवेचन करने के द्वारा काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक अनुशीलन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसी प्रकार पाणिनि और महाभाष्यकार पतञ्जलि के व्याकरण मे काव्यशास्त्र-सम्मत 'उपमित', 'उपमान' और 'सामान्य' का उल्लेख है। हमारे वैयाकरणों ने शब्दशास्त्र का जिस वैज्ञानिक प्रौढता से निर्माण व सम्पादन किया है उस सबसे यही प्रतीत होता है कि काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तो का भी विवेचन उसी प्रणाली पर होता रहा होगा, क्योकि काव्यशास्त्र शब्दविचार के अन्तर्गत ही है। इस तथ्य की स्वीकृति 'काव्य-प्रकाश' मे यह कहकर—**"बुधैर्वैयाकरणै प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार कृत। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भा-**

वितवाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य"—की है। यहाँ पर वे स्पष्टतया बताते है कि उन वैयाकरणो के ही मतानुसार अन्यो ने भी वाच्यार्थ को गौण बना व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञापक शब्द अर्थ दोनो को ही 'ध्वनि'-काव्य माना है।

व्याकरण की तरह भारतीय दर्शनशास्त्र भी अपनी सूक्ष्मवीक्षण शक्ति तथा परिपूर्णता के लिए विख्यात है। प्राचीन समय मे अध्ययन की परिपाटी गुरू को केन्द्र मानकर चलती थी। शिष्य अपने गुरू के दार्शनिक सिद्धान्तो का कट्टर अनुयायी होता था। इसी मे उसका शिष्यत्व था। ऐसे शिष्य जब व्याकरणादि अन्य क्षेत्रो मे पहुँचते थे तो वे उन शाखाओ के सिद्धान्तो की व्याख्या अपने दार्शनिक मतो के अनुकूल करते थे। इस प्रकार व्याकरणादि और दर्शन के सिद्धान्त परस्पर मँज-धुल कर गुँथे हुये है। सिद्धान्तो के इस परिमार्जन का क्षेत्र काव्यशास्त्र तक भी अवश्य विस्तृत हो गया होगा। इसी कारण हम बाद को भी इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए लोल्लट, शकुक, भट्टनायक, अभिनव-गुप्त आदि को देखते है ; ये सभी क्रमश मीमासा, न्याय, साख्य और वेदान्त दर्शनो के अनुयायी थे और अपने दार्शनिक सिद्धान्तो के प्रकाश मे ही काव्यशास्त्र-सम्बन्धी तथ्यो का विवेचन करते थे। अत व्याकरण व दर्शन ग्रन्थो की शैलियो को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन पण्डित विभिन्न शास्त्रो के क्षेत्र मे दिग्विजय कर अपने दार्शनिक मत की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के लिये अवश्य लालायित रहते होगे। अत काव्यशास्त्र मे भी उनका प्रसार अवश्य रहा होगा। यह बात तब अनुमान कोटि से बढकर सिद्ध तथ्य तक जा पहुँचती है जब हम भरत को अपने 'नाट्यशास्त्र' मे कृशाश्व व शिलालिन् जैसे काव्यशास्त्राचायो का उल्लेख करते हुए पाते है।

अभी तक हमने यह देखा कि काव्यपुरुष के चरणचिह्न सभी प्राचीन ग्रन्थो मे अधिकता से पाये जाते है। परन्तु उसका मूर्त्त साक्षा-

त्कार भरत के नाटचशास्त्र के रूप मे ईशापूर्व द्वितीय शताब्दी में ही आकर होता है। तथापि काव्यशास्त्र के अनुशीलन की परिपाटी भरत से प्राचीनतर है।

नाव्यशास्त्र के रूप मे काव्यशास्त्र का स्वतन्त्ररूपेण दर्शन

'काव्यमीमासा' मे राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि साहित्य-शास्त्र का प्रथम उपदेश शिव ने ब्रह्मा को किया, ब्रह्मा से दूसरो को मिला। और यह भी निर्देश किया कि उसके अठारह अधिकरणो के अठारह आदि-प्रवक्ता कौन-कौन थे? रस-प्रकरण के विषय में—'**रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर**" - कहकर रस का आदि व्याख्याता नन्दिकेश्वर को बताया है। यह बात सम्भव हो सकती है, क्योकि नन्दिकेश्वर का उल्लेख अन्य अनेक लेखको ने भी किया है। अभिनवभारती मे अभिनवगुप्ताचार्य लिखते है—"**यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वर-मतमत्रागमित्वेन दर्शित तदस्माभि साक्षान्नदृष्ट तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते सक्षेपत.** " अर्थात् नन्दिकेश्वर की कृति को हमने देखा नही है परन्तु उनके मत के विषय में कीर्तिधर को प्रमाण मान लिया है। इसी प्रकार प्राचीन अभिलेखो मे 'सुमति' नामक किसी विद्वान् के 'भरतार्णव' नामक ग्रन्थ का, जो नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ के आधार पर निर्मित हुआ था, उल्लेख पाया जाता है। शारदातनय के 'भावप्रकाशन' मे तो स्पष्टतया यह बताया गया है कि नन्दिकेश्वर ने भरतमुनि को नाटयशास्त्र का उपदेश दिया। इस सबके अतिरिक्त नाटचशास्त्र मे रस-सिद्धान्त का व्याख्यान सक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त प्रौढ एव वय प्राप्त प्रतीत होता है। अत यह मान लेना कि रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन भरत के पूर्व समय से ही होता चला आया था सर्वथा तर्कसगत हे, चाहे हमारे पास एतद्विषयक नाटचशास्त्र के सिवाय और कोई प्राचीनतर ग्रन्थ न भी हो।

इतना ही नही, सस्कृत के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थो मे अनेक उद्धरण ऐसे भी है जिनसे भरत के पूर्व हुए अन्य अनेक आचार्यों और

उनके ग्रन्थो के स्पष्ट उल्लेख मिलते है। नान्यदेव ने अपने भरतभाष्य (नाट्यशास्त्र की टीका) मे मतङ्ग, विशाखिल, कश्यप, नन्दिन् और दन्तिल आदि पूर्वाचार्यों का नामोल्लेख किया है। 'काव्यादर्श' की 'हृदयङ्गमा' टीका में—**'पूर्वेषा काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणा लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य** ' '' इस प्रकार से पुरातन आचार्यों का स्मरण किया गया है।

इन अवस्थाओ मे राजशेखर की साक्षी के सहित नन्दिकेश्वर को आदि आचार्य माननेवाली किम्वदन्ती, भरत द्वारा कृशाश्व व शिलालिन् नामक पूर्वाचार्यों का उल्लेख और भामह व दण्डीकृत मेधाविन् व कश्यप का स्मरण इत्यादि सभी के होते हुए भी काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र को ही मानना पड़ता है, क्योकि उक्त किम्वदन्ती, उल्लेख और स्मरणमात्र तत्तद् ग्रन्थो के अभाव मे कोई विशेष सहायता नही कर सकते। परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करके चलना पडेगा कि हमारा यह ऐतिहासिक अध्ययन अपूर्ण ही है।

भरत का नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र आकार व महत्त्व दोनो की दृष्टि से विशाल ग्रन्थ है। उसका मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है, काव्य नही। तथापि नाटक के साङ्गोपाङ्ग वर्णन के साथ प्रसङ्गवश छठे और सातवे प्रकरण मे रस का निदर्शन भी है। **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति"**—यह प्रसिद्ध सूत्र भरत का ही है। सोलहवें प्रकरण मे अलङ्कारनिरूपण सक्षिप्त ही है। नाट्यशास्त्र पर अनेक टीकाएँ भी हैं, परन्तु उन सबमें अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' सर्वाधिक विद्वत्तापूर्ण है।

शैली की दृष्टि से इसमें सूत्र, कारिकाएँ और भाष्य का क्रम विद्यमान है। श्लोको के साथ कही-कही गद्यखण्ड का भी समावेश है। यद्यपि नाट्यशास्त्र का कुछ अंश बहुत बाद का मालूम होता है तो भी कुछ भाग निश्चय ही ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी से भी पूर्व का दीखता है।

सम्भव है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र किसी प्राचीनतम कृति का विकसित रूप हो।

नाट्यशास्त्र का कर्त्ता भरतमुनि को बताया जाता है। डाक्टर काणे का अनुमान है कि नाट्यशास्त्र किसी भरत नाम के व्यक्ति ने नही अपितु भरतो (नटो) ने सगृहीत कर नटो के कुल को महत्त्व प्रदान करने के लिए महामुनि के नाम से विख्यात कर दिया। यह तो कह ही चुके है कि नाट्यशास्त्र की रचना विभिन्न प्रकार की है। अत यह स्पष्ट है कि वह अनेक प्रकार से अनेक समयो मे अनेक आचार्यों द्वारा सम्पादित होता रहा है। इस प्रकार उसका रचनाकाल ई० पू० २०० से लेकर ई० पू० ३०० तक निर्धारित होता है।

काव्यशास्त्र-सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थो मे भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही प्राचीनतम है—इस स्थापना के विपरीत कुछ लोग अग्निपुराण को सामने लाते है और 'काव्यप्रकाशादर्श' मे से महेश्वर के इस कथन को उद्धृत करते है—"**गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलङ्कारशास्त्र कारिकाभि सक्षिप्य भरतमुनि प्रणीतवान्।**" परन्तु अग्निपुराण को देखने मे ज्ञात होता है कि वह भामह, दण्डी, और ध्वन्यालोक आदि से भी अर्वाचीन है। उसमे ध्वनि-सिद्धान्त का उल्लेख होने से ही यह बात स्पष्ट है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के पश्चात् ईसा की सातवी व आठवी शती मे भामह और दण्डी दो प्रमुख आचार्य हुए। बीच के काल मे काव्यशास्त्र-विषयक प्रगति का इतिहास अभी तक अन्धकार मे ही है। परन्तु इतना निश्चित है कि इस समय भी काव्यशास्त्रानुशीलन की परिपाटी का क्रम यथापूर्व जारी था। भामह ने अपने से पूर्व हुए आचार्यों के ग्रन्थो का निर्देश किया है—"**इति निगदितास्तास्ता वाचामलङ्कृतयो मया बहुविधिकृतीर्दृष्ट्वान्येषा स्वय परितर्क्य च** "इत्यादि। मेधाविन् नाम के आचार्य का तो उसने दो बार उल्लेख किया है और

उसके बताये हुए उपमा-दोषो की गणना की है –"त एत उपमादोषाः सप्तमेधाविनोदिता.।" परन्तु मेधाविन् के ग्रन्थ की उपलब्धि न होने से उनके विषय मे आगे कुछ नही कहा जा सकता ।

इसके अतिरिक्त ईसा की छठी शताब्दी मे दो ऐसे ग्रन्थ निर्मित हुए जो वास्तव मे काव्यशास्त्र-विषयक नही, फिर भी उनमे साहित्य-विवेचन को स्थान दिया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने तृतीय खण्ड मे प्राय नाटचशास्त्र का अनुकरण करते हुए नाटच और काव्य का विवेचन किया है । इसी प्रकार भट्टिकाव्य , जो व्याकरण का ग्रन्थ है, में भी काव्य-विवेचन पाया जाता है ।

इतने से निम्न दो बातो का पता चलता है —

(i) इस समय काव्यशास्त्र का महत्त्व पूर्णतया प्रतिष्ठित था, जिसके कारण उसको पुराणो और व्याकरण-ग्रन्थो मे भी स्थान दिया गया ।

(ii) भरत के नाटचशास्त्र को अपने विषय का प्रमाण-कोटि का ग्रन्थ माना जाता था, इसीलिए उसे विष्णुधर्मोत्तर पुराण के कर्ता ने आधार बनाया ।

भरत ने रस का उल्लेख वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग मे किया है। अत ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती कतिपय आचार्यो ने रस को नाटक तक ही सीमित समझा । इसीलिए हम देखते है कि भामह यद्यपि रस-सिद्धान्त मे पूर्णतया परिचित थे तो भी उन्होने काव्यात्मा अलङ्कार को ही स्वीकृत किया । भामह का समय ८वी शताब्दी माना जाता है। इस प्रकार भामह रस-विरोधी प्रथम आचार्य हुए, जिन्होने 'अलकार-सम्प्रदाय' की स्थापना की । हम देखेगे कि भामह के अनुयायी दण्डी, उद्भट और रुद्रट हुए जिन्होने उनके मत का अनुसरण किया । आचार्य भामह ने अलकार शब्द को व्यापक अर्थ मे ग्रहण करते हुए रचना एव कल्पना के सौन्दर्य को काव्यात्मा कहा । उनके मत में वक्रोक्ति (काव्या-

त्मक अभिव्यञ्जना), जो अलकार के मूल मे रहती है, से रचना और कल्पना दोनो के सौन्दर्य की वृद्धि होती है। भामह ने रसो को रसवत्, प्रेयस् और ऊर्जस्वित् अलकारो में समाहित किया हे। भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति ही काव्यात्मा है और सभी अलकारो के मूल मे वह रहती है। वक्रोक्ति से भिन्न प्रणाली स्वभावोक्ति है, पर उसमे काव्यत्व नही है। भामह का ग्रन्थ 'काव्यालकार' है।

दण्डी का काल सातवी शती बताया जाता है। इन्होने वैदर्भी और गौडी नामक दो रीतियो, दस गुणो और पैतीस अलकारो का कथन किया है। दण्डी का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' है जो रीति-सम्प्रदाय और अलकार मतो के बीच की कडी कहा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से यह ज्ञात होना है कि दण्डी ने भरत का अनुसरण करते हुए काव्याङ्गो के विवेचन को ही महत्त्व दिया, जब कि भामह ने अलङ्कार-सम्प्रदाय का मण्डन किया। दण्डी ने रसो को भामह की ही तरह अलङ्कारो मे समाहित किया है। परन्तु रसवर्णन है विस्तार से। दण्टी का रीति और गुण-विषयक दृष्टिकोण निम्न प्रकार हे —

अस्त्यनेको गिरां मार्ग सूक्ष्मभेद परस्परम् ।
तत्र वैदर्भ-गौडीयौ वर्ण्यैते प्रस्फुटान्तरौ ॥
वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा स्मृता ।
एषां विपर्यय. प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि ॥

आठवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे 'अलङ्कारसारसग्रह' के रचयिता आचार्य उद्भट हुए। यद्यपि ये भामह के मतानुयायी थे तो भी अलङ्कार-सम्प्रदाय मे इनके आचार्यत्व का प्रामाण्य सर्वोपरि है। अतएव इनके विरोधी आचार्यो तक ने इनका उल्लेख बडे सम्मान के साथ किया है। अर्थ, श्लेष, सघटना आदि से सम्बद्ध इनके स्वतन्त्र सिद्धान्त है जिनका उल्लेख परवर्ती आचार्य इनके नाम से कर गये है।

इनके ग्रन्थ 'अलङ्कारसारसग्रह' में ६ वर्ग और ७९ कारिकाएँ

है। इन्होने ४१ अलङ्कारो की गणना की है। अलङ्कारो के उदाहरण स्वरचित है। आचार्य मुकुल के शिष्य कोङ्कण निवासी प्रतीहारेन्दुराज ने अलङ्कारसारसग्रह पर 'लघुवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो अलङ्कार-ग्रन्थो पर की गई टीकाओ मे सर्वप्रथम होने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। इनका काल ६५० ई० के आसपास स्थिर होता है।

इसके बाद रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य वामन हुए और 'काव्यालकार सूत्र' की रचना की। इनका काल ७५० ई० से लेकर ८०० ई० तक के बीच माना जा सकता है। 'काव्यालकार सूत्र' मे सूत्र, वृत्ति और उदाहरण है। उदाहरण इन्होने दूसरे कवियो के सगृहीत किये हैं।

वामन ने बडे साहस के साथ प्रचलित अलकार-सम्प्रदाय के विपरीत **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** की उद्घोषणा की। इन्होने गौडी, पाञ्चाली और वैदर्भी इन तीन रीतियो की प्रतिष्ठा की। नाम यद्यपि प्रदेशविशेष पर अवलम्बित है, परन्तु उनका सीमाक्षेत्र सर्वथा स्वतन्त्र है। बाद के कुछ विद्वानो ने रीतियो की सख्या दस तक पहुँचा दी, परन्तु रीति का सम्बन्ध जब गुण नामक तत्त्व से जुड गया तो इस सख्यावृद्धि पर कम जोर हो गया। रीति-सम्प्रदाय मे पद-रचनावैशिष्टय की प्रधानता होने से पदरचना के गुणो और दोषो का विवेचन भी जोर पकडने लगा। प्रारम्भ मे दोषो के अभाव को ही गुण माना गया, परन्तु बाद को गुणो की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई। गुणो और दोषो की सख्या भी घटती-बढती रही, परन्तु अन्त मे गुण तीन ही—माधुर्य, ओज, प्रसाद—माने गये। रस-सम्प्रदाय का अपना महत्त्व चला ही आता था, उसकी उपेक्षा रीति-सम्प्रदाय भी न कर सका, अत अलङ्कारवादियो की तरह इन्होने भी रस को गुणो के भीतर समाविष्ट करने की चेष्टा की।

ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की सातवी-आठवी सदी मे अलङ्कार

और रीति मतो का बडा ज़ोर एव स्पर्धा थी। रीतिमत मे गुणो और दोषो के विस्तृत विवेचन के फलस्वरूप गुण-सहित निर्दोष पद-विन्यास को काव्यात्मा माना गया।

रुद्रट ने 'काव्यालकार' की रचना ८२५ ई० और ८७५ ई० के मध्य में की होगी। इन्होने सर्वप्रथम वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलङ्कारो का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया। इनका अलङ्कार-विवेचन भी पूर्वाचार्यो की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। रस का भी ये महत्त्व स्वीकार करते है—"तस्मात्तत्कर्तव्य यत्नेन महीयसा रसैयु क्तम्।" तथापि ये अलङ्कारवादी ही थे। इनकी दृष्टि मे रीतियाँ चार है। नमिसाधु की 'काव्यालकार' पर टीका है।

नौवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की रचना के कारण 'काव्यशास्त्र' के इतिहास मे युगान्तर पैदा हो गया। इस महान् ग्रन्थ को टीकाकार भी उतना ही महान् मिला। अभिनव-गुप्ताचार्य ने दसवी सदी के उत्तरार्ध मे इस पर 'लोचन' नाम की टीका लिखकर ग्रन्थ के गौरव में चार चाँद लगा दिये। डा० काणे ने 'ध्वन्यालोक' और उसकी टीका 'लोचन' के विषय मे कहा है— "अलकारशास्त्र के इतिहास मे ध्वन्यालोक युगान्तरकारी कृति है, अल-ङ्कारशास्त्र मे इसकी वही महत्ता है जो व्याकरण मे पाणिनि के सूत्रो और वेदान्त में वेदान्तसूत्रो की। और अभिनवगुप्त की टीका पतञ्जलि के महाभाष्य और शकराचार्य के वेदान्तभाष्य के तुल्य है।"

ध्वन्यालोक मे १२९ कारिकाएँ, वृत्ति अर्थात् भाष्य और पूर्व कवियो के श्लोक उदाहरण रूप में सगृहीत है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार भागो (उद्योतों) में विभक्त है। 'ध्वन्यालोक' से पूर्व रस-सिद्धान्त एक प्रकार से अव्याप्ति दोष से घिरे हुए होने की-सी स्थिति में था। 'नाट्यशास्त्र' मे रस का कथन जिस ढग से किया गया है उससे यह भ्रम हो जाना स्वाभाविक था कि उसका सम्बन्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो

अर्थात् स्त्रियो के अगज तथा स्वभावज अलकार, सात्त्विक भाव और रति आदि से उत्पन्न अन्य चेष्टाये अनुभाव कहाती है। साराश यह कि आलम्बन तथा आश्रय के कार्य अनुभाव है। परन्तु यहाँ पर इतना विवेक करना अभीष्ट है कि रस को उद्दीप्त करने वाली चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत मानी जायेगी। जैसे कटाक्ष यदि रस को उद्दीप्त करने वाला हो तो वह उद्दीपन विभाव है, अन्यथा यदि वह उद्बुद्ध रति का प्रकाशकमात्र है तो उसे अनुभाव ही समझना चाहिए। जैसा कि रसतरगिणी मे कहा है—"**ये रसान् अनुभावयन्ति, अनुभवगोचरता नयन्ति तेऽनुभावा कटाक्षादय कारणत्वेन। कटाक्षादीना करणत्वेनानुभावकत्व, विषयत्वेनोपद्दीपनविभावत्वम्।**"

अनुभाव अनन्त हो सकते है। तो भी उनका विभाजन किया गया है जो निम्न कोष्ठक से स्पष्ट हो सकेगा—

(अगले पृष्ठ पर देखें)

अनुभाव

१	स्त्रियों के यौवन के अलंकार [२८]	१ अंगज	हाव, भाव, हेला	३
		२ अयत्नज	शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य	७
		३ स्वभावज	लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, चिकृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि	१८
				(कुल) २८
२	सात्त्विक भाव		(अन्तःकरणस्य धर्मविशेषः सत्त्व., तस्य भावः सात्त्विक.) स्तम्भ, प्रस्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथू, अश्रु, प्रलय, वैवर्ण्य	८
३	कायिक		विभिन्न शारीरिक चेष्टाएँ	अनन्त
४	मानसिक		प्रमोद आदि मनोवृत्तियाँ	"
५	वाचिक		उक्ति रूप में प्रकट किए गये कार्य	"
६	आहार्य		वेश-विन्यास आदि	"

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के सम्मिलित रूप से नट द्वारा उपन्यस्त किये जाने पर दर्शक के मन मे एक तीव्र आनन्दानुभूति का सचार होता है। यही रस या काव्यानन्द है। रस-अभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण करने के लिए विद्वान् लोग निम्न प्रकार से उदाहरण दिया करते है —

रस-निष्पत्ति क्रम

"वेश-भूषा आदि से सुसज्जित नट-नटी दुष्यन्त और शकुन्तला का रूप धारण करके दर्शक के सामने आते है। रमणीय तपोवनकुञ्जो मे दुष्यन्त और शकुन्तला का सम्मिलन होता है (दुष्यन्त और शकुन्तला परस्पर आलम्बन विभाव और तपोवन की प्रफुल्लित लताकुञ्जे आदि उद्दीपन विभाव है)। दोनो एक-दूसरे के रूप-लावण्य पर मोहित हो उत्सुक नेत्रो से रूप-रस का पान करते है। प्रथम दृष्टिपात के पश्चात् शकुन्तला को जब सुध होती है तो वह आरक्तमुख होकर चल देती है, परन्तु हृदय की उत्कण्ठा को न दबा सकने के कारण तिरछी नज़र से दुष्यन्त को देखती जाती है। (प्रेमी-प्रेमिका का परस्पर मुग्धभाव से देखना, लज्जावश आरक्त-मुख होना आदि अनुभाव है)। आश्रम मे जाकर विरहतप्ता शकुन्तला प्रिय की स्मृति से कभी चिन्तित, कभी निराश और कभी अनमनी हो उठती है और क्षणभर के लिए प्रिय-मिलन की कल्पना से आनन्दविभोर हो जाती है (आकस्मिक रूप से उठकर विलुप्त होने वाले स्मृति, चिन्ता, आशा, निराशा आदि भाव व्यभिचारी है)। ठीक समय पर काम करने वाली प्रियंवदा आदि सखियो के सत्प्रयत्न से शकुन्तला और दुष्यन्त का पुनर्मिलन होता है।"— रगशाला के कलापूर्ण भव्य वातावरण मे सगीत, कविता आदि नाट्य-धर्मियो के सहयोग से जब यह सम्पूर्ण दृश्य (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो का सयोग) प्रेक्षक के सामने आता है तो उसके हृदय

मे वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायीभाव उद्‌बुद्ध होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाते है जिससे कि वह देश-काल की सुध-बुध भूल-कर तन्मय हो जाता है। चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे 'आनन्दमयी चेतना' में निमग्न कर देता है। यही 'आनन्दमयी चेतना' रस है। कोष्ठक रूप में इसे हम निम्न प्रकार से रख सकते है—

(अगले पृष्ठ पर देखें)

स्थायीभाव	विभाव		अनुभाव	सचारीभाव
(मूलभाव या बीज)	आलम्बन विभाव (उत्पादक कारण)	उद्दीपन विभाव (उद्दीपनकर्ता)	उद्बुद्ध रत्यादि को बाहर प्रकट करने वाले कार्य	सहकारी कारण
नायक नायिका की पारस्परिक रति आदि अर्थात् अनुराग आदि	नायक और नादिका दुष्यन्त वा शकुन्तला	रमणीय तपोवन, लता-कुञ्जे आदि आह्लादक प्रकृति	मुग्धभाव से देखना, लज्जावश आरक्त मुख होना आदि	स्मृति, चिन्ता, आशा, निराशा आदि

आद्याचार्य भरत के सूत्र के उपरिलिखित स्पष्टीकरण से यह बात निर्विवाद रूप से सामने आई कि रस आनन्दस्वरूप अर्थात् एक आनन्दमयी चेतना है। परन्तु सूत्र से यह स्पष्ट नही होता है ? कि रस की स्थिति किसमे रस की मूल-स्थिति का अन्वेषण करते हुए विभिन्न आचार्य सूत्रगत 'सयोग' और 'निष्पत्ति' इन दो शब्दो का व्याख्यान अपने अपने ढङ्ग से करते है। यदि 'सयोग' और 'निष्पत्ति' की वैज्ञानिक व्याख्या सामने आ जाय तो रस की मूल स्थिति किसमें है, और रस का स्वरूप क्या है, इन दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का विज्ञान-सम्मत उत्तर मिल जायेगा, क्योकि रस-परिपाक की प्रक्रिया में उक्त दोनो शब्दो की मनोवैज्ञानिक व्याख्या ही रस-सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप दे सकती है।

भरत मुनि का सूत्र तथा रस-प्रक्रिया

सामान्यतया देखने पर यह प्रतीत होता है कि रस की स्थिति किसमे है। इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल ही स्पष्ट हे, और वह यह कि रसस्थिति स्पष्टतया दर्शक में है। वही रस का भोक्ता है, क्योकि दर्शक ही नाटक देखने जाता है। परन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर साहित्य की अत्यन्त मौलिक समस्या--"रस का मूल भोक्ता कौन है ?"—प्रश्न बनकर सामने आ जाती है। नाटक और काव्य से सम्बद्धित सिर्फ दर्शक ही नही है, अपितु कविकृत पात्र, पात्रो की भूमिका लेने वाले नट-नटी और कविकृत पात्रो के मूल पुरुष (ऐतिहासिक दुष्यन्त आदि) सभी है। आज का अध्येता मनोविज्ञान की 'टार्च' लेकर बडी सूक्ष्मता से रस-स्रोतो की खोज करता है और प्राचीन सस्कृत के आचार्यो ने भी एतद्विषयक बडी माथापच्ची की है।

अत अब हमारा अध्ययन दो भागो में विभक्त हो जाता है। प्रथम

तो हमे यह देखना है कि रस-परिपाक-प्रक्रिया मे 'सयोग' और

प्रस्तुत प्रश्न

और 'निष्पत्ति' का क्या अर्थ है, जिससे यह स्पष्ट हो जाये कि रस की स्थिति किसमे है ? द्वितीय रस का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?

[१] रस-भोक्ता कौन है और रस की स्थिति किसमें है ?

भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए रस-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण जिन प्रमुख विद्वानो ने किया है उनमे भट्टलोल्लट सर्वप्रथम है। ये मीमासक

मीमासकसम्मत भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

विद्वान् थे। रस की व्याख्या करते हुए इन्होने मूल रसस्थिति ऐतिहासिक नायक-नायिका मे मानकर प्रश्न को उलझा दिया। सामाजिक मे रसानुभूति को गौण स्थान देना उचित नही प्रतीत होता। हाँ, इतना तो मानना ही पडेगा कि इन्होने दूसरे के आनन्द को देखकर आनन्द अनुभव करने की मान्यता की स्थापना कर मानव-मुलभ-सहानुभूति के तत्त्व को महत्त्व प्रदान किया है, तथा नट-नटी मे भी रस की स्थिति को मानकर अभिनयकला की सफलता के लिए उनके तल्लीन हो जाने के मान्य सिद्धान्त की स्थापना की है। भट्टलोल्लट का मत निम्न प्रकार से है —

"(विभावै) ललना उद्यानादि आलम्बन व उद्दीपन कारणो से (जनित) उत्पादित, एव (अनुभावै) भुजाक्षेप आदि कार्यो से (प्रतीति-योग कृत) जानने योग्य किया गया और (व्यभिचारिभि) निर्वेदादि सहकारियो से (उपचित) पुष्ट किया गया (रत्यादिकोभाव) जो रत्यादि स्थायीभाव है सो, (मुख्यया वृत्त्या) वास्तविक सम्बन्ध से तो (रामादावनुकार्ये) रामादि अनुकार्यो मे और (तद्रूपतानुसन्धानात् नर्त्तकेऽपि) अनुकार्य के सादृश्य का अनुसन्धान करने के कारण नट मे भी (प्रतीयमान) प्रतीत होने वाला, (रस·) रस है।"

इसका विश्लेषण करने से रस-परिपाक-प्रक्रिया का स्वरूप निम्न प्रकार से मालूम पडता है .—

१ रामादि नायक-नायिका रूप अनुकार्यों मे विभाव (आलम्बन एव उद्दीपन), अनुभाव व सहकारी कारणो से स्थायीभाव क्रमश उत्पन्न, उद्दीप्त, प्रतीत और पुष्ट होता है। यही स्थायीभाव रस है। और अनुकार्यों मे ही उत्पन्न होने के कारण प्रधान रूप से उन्ही मे स्थित होता है।

२ जब नट-नटी रगमच पर अनुकार्यो का अनुकरण करते है तो सामाजिक नटो मे भी अनुकार्यों और उनके रस का आरोप कर लेता है। इस आरोप के कारण उसे रस प्रतीत होने लगता है।

३ सामाजिक को रस की प्रतीति से ही रस (आनन्द) मिलने लगता है। अत. सामाजिक का रस प्रतीतिजन्य है।

इस पर से भट्टलोल्लट की निम्न मान्यताओ का पता चलता है —

(क) रस की स्थिति मूल ऐतिहासिक नायक-नायिका मे होती है। नट द्वारा इसे रगमच पर दिखाया जाता है। अत: नट में भी रस-स्थिति गौण रूप से है जो प्रेक्षक द्वारा आरोपित है । इसके बाद प्रेक्षक मे रस-स्थिति प्रतीतिजन्य होती है, अर्थात् रस की वास्तविक स्थिति तो है नायक-नायिका मे, और प्रेक्षक में है सक्रमित रूप से। नट माध्यम है।

(ख) 'ऐतिहासिक नायक-नायिका' और कवि-अकित नायक-नायिका' मे वह कोई अन्तर नही मानते। वस्तुतस्तु सभी प्राचीन सस्कृत-विद्वानो की यही मान्यता रही है। उनकी वाह्यार्थनिरूपिणी दृष्टि ने कवि के व्यक्तित्व को कभी भी पूरी तरह नही आँका।

आधुनिक आलोचक कवि के व्यवितत्व को महत्त्व देते हुए कवि की कृति को कवि की अनुभूति का मूर्त रूप मानते है। काव्य में जिन नायक-नायिकाओ का चित्रण किया जाता है वे ऐतिहासिक चरित्रो के प्रतिरूप

समझे जा सकते है। 'शाकुन्तलम्' मे जो दुष्यन्त और शकुन्तला क्रीडा कर रहे हैं वे कालिदास की मानस-सन्तति है और मूल राजा दुष्यन्त और तापस-वन-विहारिणी शकुन्तला से भिन्न हैं। भट्टलोल्लट की सबसे बडी भ्रान्ति यही है कि वह उन्हे एक ही समझने के कारण ऐतिहासिक मूल नायक-नायिका मे उत्पन्न रस को काव्य-अंकित नायक-नायिका मे भी समझ लेता है। जब कवि-अङ्कित पात्र ऐतिहासिको से भिन्न है तो काव्य मे रस की स्थिति सम्भव ही नही बन पडती।

इसके अतिरिक्त लोल्लट की मान्यता मे एक भारी कमी और भी है। यदि रस की स्थिति प्रधान रूप से लोक मे चलते-फिरते मूल नायक-नायिकाओ मे ही है तो कविकल्पना-जन्य पात्रो वाले काव्यो-नाटको में भी रस सम्भव नही हो सकता।

कुछ लोग भट्टलोल्लट के मत पर यह भी आक्षेप कर सकते है कि नायका-नायिका को रसानुभव करते देख प्रेक्षक को आनन्दाभूति कैसे हो सकेगी ? यदि शृगार का प्रसग हुआ तो क्या लज्जा का अनुभव नही होगा ? परन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिक इस शका का समाधान यह कहकर कर देते है कि मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा दूसरे के आनन्द को देखकर आनन्दानुभूति सम्भव हो जाती है।

एक प्रमुख आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि रस 'कार्य' कैसे हो सकता है ? अर्थात् विभावादि कारणो का कार्य 'रस' नही कहा जा सकता। क्योकि हम देखते है कि कारण के विनष्ट हो जाने पर भी कार्य रहता है, पर यहाँ ऐसा नही होता। यहाँ तो रस तभी तक रहता है जब तक विभावादि कारण रहते है। अत विभावादि और रस मे कार्य-कारण सम्बन्ध नही माना जा सकता।

लोल्लट के बाद उक्त सूत्र के व्याख्याता श्री शकुक का मत रखा जाता है। ये नैयायिक थे। इन्होने लोल्लट के मत पर यह आक्षेप कर

कि नायक के आनन्द को देखकर प्रेक्षक को आनन्दानुभूति नही हो सकती, वास्तव मे मनोविज्ञान-सिद्ध सहानुभूति के तत्त्व का निषेध कर दिया। प्रेक्षक रस को अनुमान द्वारा प्राप्त करता है, इनकी यह बात भी लोगो को बहुत कम जँची। अत इनके मत ने रस-सिद्धान्त की गुत्थी को सुलझाने मे विशेष योग नही दिया। इन्होने अपने मत को भारी शब्दाडम्बर के साथ रखा —

नैयायिकसम्मत शंकुक का अनुमितिवाद

"दर्शक को नट मे जो "यह राम है" (रामोऽयमिति) ऐसी प्रतीति होती है वह "राम ही यह है" "यही राम है" (राम एवाऽयम्, अयमेव राम) ऐसे सम्यक् ज्ञान से, (उत्तरकालिके बाधे) पीछे से बाधित होने वाले (न रामोऽयमिति) "यह राम नही है" इस मिथ्या ज्ञान से, (राम स्याद्वा न वाऽयमिति) "यह राम है अथवा नही है" इस सशय-ज्ञान से और (रामसदृशोऽयमिति) "यह राम के समान है" इस सदृशज्ञान से (विल-क्षण) विलक्षण है।

दर्शक द्वारा (नटे) नट मे (चित्रतुरगादिन्यायेन) "चित्रलिखित घोडे मे घोडे का ज्ञान होता हे" इस न्याय से (रामोऽयमिति) "यह राम है" इस (प्रतिपत्त्या) ज्ञान के (ग्राह्ये) ग्रहण किये जा चुकने पर, नट "सेय ममागेषु" तथा "दैवादहमद्य" इत्यादि श्लोको का पाठ करता है।

नट (इत्यादि काव्यानुसन्धानबलात्) उक्त काव्यसम्बन्धी अर्थो की प्रतीति के बल से तथा (शिक्षाभ्यासनिर्वतित) अभिनय के शिक्षण एव अभ्यास के ज़ोर से सम्पादित (-स्वकार्यप्रकटनेन च—, अपने कार्य को अच्छी तरह से प्रकाशित करके दिखाता है।

उस (नटेनैव) नट के द्वारा (प्रकाशितै) प्रस्तुत किये गये (कारण-कार्यसहकारिभि) कारण, कार्य और सहकारी भाव, जो (विभावादि-शब्दव्यपदेश्यै) नाटचशास्त्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन शब्दो से निर्दिष्ट है, (कृत्रिमैरपि) बनावटी होने पर भी (तथानभिमन्य-मानै —) वैसे अर्थात् मिथ्या भासित नही होते।

इन्ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो के (सयोगात्) सयोग से रस (गम्यगमकभावरूपात्) ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव रूप से (अनुमीयमानोऽपि) अनुमित होता है और (वस्तुसौन्दर्यबलात्) सम्पूर्ण वातावरण रूप वस्तु के सौन्दर्य के बल से (रसनीयत्वेन—) समास्वादनयोग्य होता है।

रस (अन्यानुमीयमान) सामाजिको से अनुमीयमान होता हुआ भी (विलक्षण) अनुमान से भिन्न होकर (स्थायित्वेन सभाव्यमान) स्थायी रूप मे चित्त मे अभिनिविष्ट बिधा हुआ—होता है।

ये जो (रत्यादिर्भाव) रत्यादि स्थायीभाव है वे (तत्रासन्नपि) नट मे न होने पर भी (सामाजिकाना) दर्शको की (वासनया) वासना द्वारा (चर्व्यमाण) चर्वित होते है, आस्वादित होते हैं——यही भाव रस है।"

इनकी रस-परिपाक-प्रक्रिया निम्न प्रकार समझी जा सकती है —

(*i*) रामादि नायक-नायिका मे स्थायीभाव होता है।

(*ii*) कारण, कार्य और सहयोगी कारणो के सयोग से वह स्थायीभाव (या मूलभाव) उन्ही के द्वारा अनुभव किया जाता है।

(*iii*) इस सम्पूर्ण अवस्था का नट-नटी अभिनय करते है, अर्थात उनके कार्यो और भावो दोनो का अनुकरण करते हैं।

(*iv*) चित्र-तुरग-न्याय से दर्शक यह समझ लेता है कि मूलभाव के अनु-भव किये जाने की अवस्था मेरे सामने मूल रूप से ही घटित हो रही है (जैसे कोहरे से आवृत्त प्रदेश को कोई व्यक्ति धूमावृत समझ लेता है)।

(*v*) इस अवस्था मे प्रेक्षक नायक-नायिका के मूलभाव (स्थायीभाव-रत्यादि या रस) का भी अनुमान कर लेता है (जैसे दर्शक द्वारा कुहराछन्न प्रदेश को धूमावृत समझ लिये जाने पर वह वहाँ उसके सहचारी अग्नि का भी अनुमान कर लेता है)। यह अनुमित स्थायीभाव ही रस है जो अपने सौन्दर्य के बल से स्वाद का आनन्द

देता है और चमत्कृत करता है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह अनुमित स्थायीभाव वास्तविक मूलभाव (नायकादि के रतिभाव) से भिन्न न होकर उसका अनुकृत रूप है।

इस पर से इनकी निम्न मान्यताओ की सिद्धि सम्भव है —

(क) प्राचीनो की तरह इन्होंने भी ऐतिहासिक नायक-नायिकाओ मे और कवि-निबद्ध नायक-नायिकाओ मे कोई अन्तर नही माना।

(ख) रस की स्थिति भी, लोल्लट की तरह, ये ऐतिहासिक नायक-नायिकाओ में ही मानते है। नट-नटी द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण वस्तु को प्रेक्षक असली ही मान लेता है। फिर उसमे मूलभाव का अनुमान कर लेता है। अर्थात् रस का मूल भोक्ता ऐतिहासिक पुरुष है, प्रक्षक का रस अनुमित है और नट-नटी माध्यम रूप से हैं। फलत निष्पत्ति का अर्थ हुआ अनुमिति।

(ग) और भरत स्थायीभाव और रस में कोई अन्तर नही मानते—ऐसा इनका विचार है।

शकुक की प्रथम दो मान्यताये वही हैं जो लोल्लट की थी। अत तद्विषयक पूर्वकथित दोष यहाँ भी ज्यो के त्यो है। अनुमिति का सिद्धान्त भी विज्ञानसम्मत नही। यदि प्रेक्षक अनुमान द्वारा रस का ग्रहण कर लेता है तो उसे रस-विषयक ज्ञान ही हो सकता है, रसानुभूति नही हो सकेगी, क्योकि अनुमान स्पष्टतया बुद्धि की क्रिया है।

इसके अतिरिक्त शकुक की यह मान्यता कि अनुकार्यो की अनुकूल दशा से स्थायीभाव का अनुमान प्रेक्षक कर लेता है, भी निराधार है, क्योकि अनुमित पदार्थ से कार्यसिद्धि नही होती। कोहरे को धूम समझकर उसके सहचारी अग्नि का यदि अनुमान कर भी लें तो क्या ठण्ड दूर हो सकेगी? अत अनुमित स्थायीभाव दर्शको को आनन्दानुभूति नही करा सकता।

भरतसूत्र के तृतीय व्याख्याता भट्टनायक है। रस-सिद्धान्त के प्रतिपादको मे इनका स्थान बहुत ऊँचा है। ये मौलिक प्रतिभा के विद्वान थे। रस की स्थिति को इन्होने विषयगत न मानकर विषयीगत माना। इनका यह कदम लोल्लट और शकुक की अपेक्षा अत्यन्त क्रान्तिकारी था, क्योकि वे रसस्थिति को मूल नायक-नायिकाओ मे ही मानते चले आ रहे थे और वहाँ से प्रेक्षक के हृदय मे सिद्ध करने के लिए विविध कल्पनाजालो मे उलझे पडे थे। भट्टनायक ने सर्वप्रथम प्रेक्षक मे रसस्थिति मानकर उस पचडे का सफाया कर दिया। इसके अतिरिक्त 'साधारणीकरण' के असाधारण सिद्धान्त की उद्भावना कर रस-सिद्धान्त की वैज्ञानिक आधारशिला स्थापित कर दी।

सांख्यवादी भट्टनायक का भुक्तिवाद

लोल्लट (मीमासक) और शकुक (नैयायिक) की इस मान्यता पर कि नायक-नायिका के स्थायीभाव के साक्षात्कार से प्रेक्षक के हृदय मे रस उत्पन्न या अनुमित होता है, भट्टनायक ने आपत्ति उठाई। उन्होने कहा कि नायक के जिस प्रकार के भाव का साक्षात्कार प्रेक्षक करेगा, वैसा ही भाव उसके हृदय में भी उठ सकता है। दु खद प्रसग के प्राप्त होने पर नायक की तरह प्रेक्षक को भी दु ख ही होना चाहिए। अर्थात् शोक से शोक की ही उत्पत्ति होगी। पर ऐसा होता नही। प्रेक्षक दु खद प्रसग मे भी आनन्दानुभूति करता है। अत उक्त मत स्वीकार्य नहीं हो सकता।

इसी प्रकार ध्वनिकार के मत पर भी उन्होने शका उठाई। ध्वनिवादियो ने कहा कि प्रेक्षक के हृदय में सस्कार-रूप से स्थित स्थायीभाव विभावादि के सयोग से अभिव्यक्त हो जाते है। भट्टनायक ने कहा कि इस अवस्था मे आलम्बन (सीतादि) के प्रति जो नायक (रामादि) के भाव है वही प्रेक्षक में भी कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? प्रेक्षक तो सीता को जगन्माता मानता है। राम-सीता का अभिनय

देखकर सीता के प्रति जगन्माता की ही भावना हो सकती है, स्त्री की नही। और फिर रति-शोकादि साधारण भावो की अभिव्यक्ति मान भी ली जाय, पर हनुमान एव भीमादि के समुद्रलघन जैसे अद्भुत पराक्रम-पूर्ण कार्यों को देखकर अल्पायतन प्रेक्षक मे उन-जैसे वीर भावो की अभिव्यक्ति कैसे सम्भव हो सकती है ?

अतएव इन्होने उक्त मतो का निरसन करते हुए अपने मत को इस प्रकार रखा —

"(न ताटस्थ्येन) न तो तटस्थ—[उदासीन नट व रामादि नायक मे]—और (नात्मगतत्वेन) न आत्मगत—[प्रेक्षकगत रूप मे]—रूप से (रस प्रतीयते) रस की प्रतीत होती है, (नोत्पद्यते) न उनकी उत्पत्ति होती है, (नाभिव्यज्यते) और न उसकी अभिव्यक्ति [व्यञ्जकता द्वारा सिद्धि] होती है। (अपितु) किन्तु (काव्ये नाट्ये च) काव्यो और नाटको में (अभिधातो द्वितीयेन) अभिधालक्षणा से भिन्न किसी अन्य (विभावादिसाधारणीकरणात्मना) विभावादि का साधारणीकरण करने वाले (भावकत्वव्यापारेण) भावकत्व नामक व्यापार के द्वारा (भाव्यमान स्थायी) असाधारण से साधारण किया गया जो स्थायी-भाव है वह, (सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय) सत्त्वगुण के प्रवाह के वेग से आनन्दस्वरूप तथा (सविद्विश्रान्तिसत्त्वेन) अन्य ज्ञानो को तिरोहित कर देने वाले—[अर्थात् विक्षेपरहित मन स्थिति वाले]—(भोगेन) भोजकत्व नामक तृतीय व्यापार द्वारा (भुज्यते) उपभुक्त होता है—आस्वादित होता है। यह आस्वादन ही रसनिष्पत्ति है।"

इनकी रस-परिपाक-प्रक्रिया का स्वरूप निम्न प्रकार से हो सकता है —

(i) रामादि (नायक-नायिका) मे स्थायीभाव रत्यादि होता है।

(ii) कारण-कार्य और सहकारियो के सयोग से वह स्थायीभाव रामादि मे उद्बुद्ध होकर उन्हें परितृप्ति प्रदान करता है।

(*iii*) यह सम्पूर्ण अवस्था नट के अभिनय द्वारा या—श्रव्य काव्य हुआ तो—काव्यानुशीलन द्वारा दर्शक के सामने आती है। तब उसे काव्यगत तीन शक्तियों—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व—में से प्रथम अभिधा के बल से काव्यार्थ की अभिज्ञता होती है।

(*iv*) इसके अनन्तर दर्शन उस अर्थज्ञान का काव्यगत द्वितीय शक्ति—भावकत्व-के द्वारा भावन करता है। भावन का तात्पर्य है निर्विशेष रूप से चिन्तन, जिससे राम-सीता और उनकी पारस्परिक रति निर्विशेष रूप मे रह जाती है। अर्थात् उनकी रति पुरुषमात्र की, स्त्रीमात्र के प्रति सहज स्वाभाविक रति के रूप में हो जाती है। इस प्रक्रिया को साधारणीकरण कहते है।

(*v*) नायक-नायिका की रति एव विभावादि के साधारणीकरण हो जानें पर दर्शक में रजोगुण व तमोगुण का स्वत लाप होकर सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है। इस अवस्था मे काव्य की तीसरी शक्ति भोजकत्व कार्य करती है। उसके द्वारा साधारणीकृत भाव व विभावादि के प्रेक्षक अपने स्थायीभावो का उपभोग करता है। रत्यादि का उपभोग या आस्वादन ही रसनिष्पत्ति है।

निष्कर्ष रूप से इनकी निम्न मान्यताएँ सामने रखी जा सकती है—

[क] रस की स्थिति ये सीधी सहृदय मे मानते है।

[ख] काव्य में तीन शक्तियाँ स्वाभाविक है— (१) अभिधा (जिसके द्वारा अर्थग्रहण होता है), (२) भावकत्व जिसके द्वारा काव्यार्थ का निर्विशेष रूप से चिन्तन होता है), (३) भोजकत्व (जिसके द्वारा आनन्द की अनुभूति होती है)।

[ग] इन्होने भावकत्व की शक्ति का प्रतिपादन करते हुए "साधारणी-करण" का उद्भावन किया।

[घ] काव्यानन्द की उद्रेकावस्था मे तमोगुण और रजोगुण सर्वथा विलुप्त हो जाते है। केवल सत्व गुण का प्राध्यान्य हो जाता है। इसी अवस्था मे रस का उपभोग होता है। अत निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति।

साधारणीकरण

भट्टनायक साधारणीकरण के सिद्धान्त के आविष्कारक है। उन्होने अपने मत के प्रतिपादन के प्रसग मे काव्यगत द्वितीय शक्ति 'भावकत्व' की इस प्रकार व्याख्या की है। 'अभिधा' द्वारा काव्य के शब्दार्थ (भाव) के ग्रहण होने पर भावकत्व द्वारा इस अर्थ का (भाव का) भावन होता है, अर्थात् भाव की वैयक्तिकता विनष्ट हो जाती है। भाव विशिष्ट न रहकर निर्विशेष (साधारण) रह जाता है—यही भावन की प्रक्रिया साधारणीकरण है। उदाहरणार्थ काव्यद्वारा उपन्यस्त राम का सीता के प्रति रतिभाव भावन की प्रक्रिया द्वारा पुरुष का स्त्री के प्रति सहज साधारण रतिभाव ही रह जाता है, यदि ऐसा न हो तो सीतादि मे पूज्यबुद्धि के कारण सामाजिक को रसानुभूति न होवे।

भट्टनायक की साधारणीकरण-प्रक्रिया

साधारणीकरण के इस सिद्धान्त को अभिनवगुप्त ने भी इसी रूप मे स्वीकार कर लिया। परन्तु 'भावकत्व' शक्ति को अनावश्यक ठहराते हुए व्यञ्जनावृत्ति से ही इसे सम्भव माना।

भट्टनायक की व्याख्या का तात्पर्य यह है। काव्य द्वारा उपन्यस्त आश्रय की रति (स्थायीभावादि) सभी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकृत रूप वाले विभावादि के सयोग से ही सामाजिक की रति भुक्त (भट्टनायक) या अभिव्यक्त (अभिनवगुप्त) होती है। केवल

आलम्बन का साधारणीकरण, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने माना है, नही होता। भट्टनायक का मत 'काव्यप्रकाश' की टीका 'काव्यप्रदीप' में इस प्रकार दिया गया है —

"भावकत्व साधारणीकरम्। तेन हि व्यापारेण विभावादय स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादि विशेषाणां कामि नीत्वादिसामान्येनोपस्थित। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्ध-विशेषानवच्छिन्नत्वेन।"

आचार्य शुक्ल जी ने "साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद" नामक निबन्ध मे साधारणीकरण के विषय मे लिखा है—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नही लाया जाता कि वह सामान्यत सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमे रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नही आती।

आचार्य शुक्ल का मन्तव्य

(विषय का) इसी रूप मे लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।" शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण के इस रूप की मान्यता का अनुवर्ती परिणाम यह होता है कि तथाविध आलम्बन के सामने आने पर रसोद्बोधन से पूर्व सामाजिक आश्रय से तादात्म्य कर ले। इसी दृष्टि से उन्होने आगे लिखा है—"साधारणीकरण के प्रतिपादन मे पुराने आचार्यों (विश्वनाथ आदि) ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भावव्यञ्जना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।"

साधारणीकरण के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की मान्यता की व्याख्या कुछ इस प्रकार की जा सकती है। पूजनीय व्यक्तियो यथा सीतादि के भी आलम्बन रूप में चित्रित किये जाने पर रसानुभूति होती है, इस-के प्रतिपादन के लिए भट्टनायक ने साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रक्रिया का अनुसन्धान किया। उन्होने साधारणीकरण का कारण

काव्यगत भावकत्व वृत्ति को माना, जो काव्य में स्वभावत होती है। काव्य (कवेरिद काव्यम्) कवि की कृति होता है। अत यह भी स्पष्ट है कि काव्य मे यह भावकत्व (साधारणीकरण करने की योग्यता) कवि द्वारा उत्पन्न की जाती है। जहाँ यह योग्यता नही वहाँ काव्यत्व भी न होगा। अत साधारणीकरण कविकर्मसापेक्ष है। ध्यान रहे कि भावकत्व को स्वतन्त्र शक्ति न मानने की अभिनवगुप्त की अवस्था में भी उक्त कथन मे अन्तर नही पडता, क्योकि काव्यगत ही व्यञ्जना शक्ति से भावन वहाँ भी माना गया है। इस सापेक्ष होने की बात को ही आचार्य शुक्ल ने इस रूप मे रखा कि किसी भाव के विषय (आलम्बन) को इस रूप मे (सबके उसी भाव का आलम्बन हो सकने योग्य रूप मे) लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। कवि ही 'आलम्बन' को इस रूप मे लाता है। अत साधारणीकरण आलम्बन का होता है। इसमे शुक्ल जी इतना और जोड देते है कि " साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होना है" (चिन्तामणि पृ० ३१३) —जिससे एक ही काव्य एक ही समय मे अनेक जनो को रस दान करने मे समर्थ होता है।

विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' मे विभागदिको के साधारणीकरण के साथ-साथ आश्रय के साथ तादात्म्य माना है—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृति.।
तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।

आचार्य श्यामसुन्दरदास जी का मत और ही है। उन्होने शुक्ल जी के मत को अमान्य ठहराते हुए लिखा है—"साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया है कि विभाव और अनुभाव को साधारण रूप करके लाया जाय। पर साधारणीकरण तो कवि या भावक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध

रखता है। चित्त के साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। हमारा हृदय साधारणीकरण करता है।"

आचार्य श्यामसुन्दरदास जी पाठक की चित्तवृत्तियो के एकतान एकलय हो जाने को ही साधारणीकरण मानते है। उनके मन्तव्यानुसार

आचार्य श्यामसुन्दर का मन्तव्य

रसानुभूति ब्रह्मानन्दसहोदर है। इसमें उसी प्रकार आनन्दानुभूति होती है जिस प्रकार योगी को ब्रह्मानन्द की। योगी का आनन्द स्थायी और यह क्षणिक है। मधुमती भूमिका (चित्त की वह विशेषावस्था है जिसमे वितर्क की सत्ता नही रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीन की प्रतीति वितर्क है। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है।) मे पहुँचकर 'पर-प्रत्यक्ष' होता है। योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रतिभा-ज्ञान-सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावत हुआ करती है। जब तक हमे सासारिक पदार्थों का 'अपर-प्रत्यक्ष' होता रहता है तब तक उनके दो रूप—सुखात्मक या दु खात्मक —हमारे सामने रहते है। परन्तु जब हमे वस्तु का पर-प्रत्यक्ष (तत्त्व-ज्ञान) होता है तब वस्तु रूप मात्र का सुखात्मक रूप ही आलम्बन बनकर उपस्थित होता है। उस समय दु खात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दु खात्मकता छोडकर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते है। यही साधारणीकरण है।

आपके विवेचन का सार इस प्रकार है --

(i) रसानुभूति मधुमती भूमिका मे होती है।

(ii) मधुमति भूमिका मे ही पर-प्रत्यक्ष होता है। उस समय ही अनुभूति अखण्ड होती है।

(iii) चित्तवृत्ति की इसी अखण्ड और एकतानता का नाम साधारणीकरण है।

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने पाठक के चित्त का साधारणीकरण माना, और आलम्बन के साधारणीकृत होने का निषेध किया। डा० नगेन्द्र की युक्तियो के अनुसार पाठक तो 'साधारणीकृत रूप का भोक्ता' है, अत उसका साधारणीकरण नही माना जा सकता।

डा० नगेन्द्र का मत

इसके अतिरिक्त रसानुभूति की दशा मे सामाजिक, आश्रय, आलम्बन और कवि (व्यवहित—इनडाइरेक्ट रूप से) इन चार के व्यक्तित्व और उपस्थित रहते है। हमें इन्ही मे से देखना चाहिए कि साधारणीकरण किसका होता है ? आश्रय का तो मान्य इसलिए नही कि अप्रिय नायक (रावण या जघन्य वृत्ति वाले पूँजीपति) से तादात्म्य करना रुचिकर नही होगा। अब रहा आलम्बन ! काव्य मे जो आलम्बन हमारे सामने आता है वह कवि की मानसी सृष्टि होता है—व्यक्तिविशेष नही, अपितु उसका प्रतिरूपमात्र समझना चाहिये। उनके शब्दो मे—' जिसे हम आलम्बन कहते है वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण ।" ऐसे आलम्बन के सम्बन्ध मे 'पूज्य-बुद्धि' होने की बाधा भी नही। "हम काव्य की सीता से प्रेम करते है और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नही, जिससे हमको किसी प्रकार का सकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि हे ।" "अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण आचार्य कवि की अपनी अनुभूति का होता है ।" (देखिये रीतिकाव्य की भूमिका पृ० ४०)

साधारणीकरण सम्बन्धी उपयुक्त सभी मतो का सम्यक् विश्लेपण करते हुए सुप्रसिद्ध आलोचक विद्वान् गुलाबराय जी इस परिणाम पर पहुँचते है कि रसानुभूति की दशा मे पाठक अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनो को तोडने के कारण, कवि अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर लोक-प्रतिनिधि बनने के कारण, भाव 'अय निज परो

गुलाबराय का मत

चेति' की लघुचेतसो की गणना से मुक्ति पा जाने के कारण और आलम्बन (अपने व्यक्तित्व मे प्रतिष्ठित रहकर ही) व्यापक सर्वजन-सुलभ सम्बन्धो के रूप में आ जाने के कारण साधारणीकृत हो जाता है।

साधारणीकरण आश्रय, आलम्बन, स्थायीभाव, कवि और सामाजिक मे से किसका होता है, इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त विद्वानो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से दिया। जहाँ तक भट्टनायक के दृष्टिकोण का प्रश्न है, वे तो आलम्बन को ही प्रश्रय देते मालूम होते है, क्योंकि उनके सामने प्रश्न ही यह था कि सीतादि पूज्य व्यक्तियो के आलम्बन रूप मे उपन्यस्त होने पर रसानुभूति कैसे होती है ? इस प्रश्न का स्वरूप भट्टनायक की दृष्टि की ओर स्पष्ट इशारा करता है। इसी का लक्ष्य करते हुए आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण सम्भव कैसे होता है इस रहस्य का व्याख्यान अपनी अन्तर्दर्शिनी बुद्धि से किया। आचार्य श्यामसुन्दरदास जी के मत को देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी समस्या बडी सीधी है, और अपनी दृष्टि पर ही उपयुक्त चश्मा चढा लेने से सम्पूर्ण दृश्य अनुकूल दिखाई देने लगता है। परन्तु इसमे जो भी समझदारी है वह सामाजिक की ही प्रतीत होती है, कवि-कौशल या काव्य के चमत्कार को कुछ भी श्रेय नही मिलता। ऐसी अवस्था मे क्या काव्य और नाटक से बाहर भी साधारणीकरण सम्भव है ?—यह प्रश्न उठता है। हमारी समझ मे इसे कोई भी स्वीकार करने के लिए तैयार नही होगा कि सामाजिक अपनी किसी तथाकथित विशिष्ट साधना के बल पर मधुमती भूमिका मे पहुँच जाता है। यदि यह कहा जाय कि सामाजिक उस अवस्था मे कवि-कौशल अथवा आलम्बन के चमत्कार से पहुँचता है तो उसका तात्पर्य यही हुआ न कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है जिससे प्रेक्षक की वैसी दृष्टि

उपरिलिखित मतों का समाहार

मिल जाती है। वास्तव मे मधुमती भूमिका मे पहुँचने के लिए (एकतानलय होने के लिये) आलम्बन का रागमय तीव्र आकर्षण होना चाहिए। आलम्बन के इसी आकर्षण पर तो आचार्य शुक्ल ज़ोर देते है।

डा० नगेन्द्र ने जो यह कहा कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है, वह इस प्रश्न का उत्तर है कि वस्तुत आलम्बन आदि का मूल स्वरूप क्या है ? वैसे तो साधारणीकरण वे भी विभावादि सभी का ही मानते है। 'साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है' इस कथन मे यह बात स्वीकृत है ही कि साधारणीकरण विभावादि सभी का होता है, चाहे वे विभावादि वास्तव मे कवि की अनुभूति ही क्यो न माने जावे। अत तात्त्विक दृष्टि से डा० नगेन्द्र और आचार्य गुलाबराय जी के मत मे कोई भेद नही है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इसके पश्चात् उक्त सूत्र के सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्याता अभिनवगुप्त हुए है। इन्होने भट्टनायक की कई मान्यताओ को स्वीकार करते हुए भी भावकत्व और भोजकत्व नामक काव्यगत दो शक्तियो को निराधार बताया। इनके कथनानुसार उक्त दोनो शक्तियो का काम व्यजना या ध्वनि से ही चल सकता है। जो 'भाव' (काव्यार्थ) है वह स्वत ही भावित होने की योग्यता रखता है। क्योकि जो भावना का विषय बने वही तो भाव है। ये भावित भाव व्यञ्जना शक्ति द्वारा आश्रय के हृदय मे स्थित रति को रस रूप मे अभिव्यक्त कर देते है। इसी प्रकार 'रस' मे भोग का भाव भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। जो भोग को प्राप्त हो सके वही तो रस है। अत सूत्रगत सयोग का अर्थ व्यञ्जित होना और निष्पत्ति का आनन्द रूप से प्रकाशित होना है।

इन्होने अपने मत का प्रतिपादन निम्न प्रकार किया —

"सर्वसाधारण, (लोके) लौकिक व्यवहारो मे स्वत. प्राप्त रहने वाले (प्रभदाभि) प्रमदा, उद्यान और कटाक्षनिर्वेदादि के द्वारा (स्थाय्यनुमानेऽभ्यास-) स्थायीभावो के अनुमान करने के विषय के अभ्यास मे (पाटवताम्) कुशलता को प्राप्त हो जाते है।

(काव्येनाट्ये च) काव्य और नाटको मे (तैरेव) उन्ही (कारणान्ना दीनाम्) कारण-कार्य और सहयोगी कारणो का (परिहारेण) परित्याग कर दिया जाता है, और (विभावनादिव्यापारवत्त्वात्) विभावनादि व्यापार वाला होने के कारण (अलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यै —) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन अलौकिक नामो से पुकारा जाता है।

ये विभावादि "(ममैवैते) मेरे ही है (शत्रोरेवैते) शत्रु के ही है (न तटस्थस्यैवैते) उदासीन के ही है अथवा (न ममैवैते) मेरे ही नही है (न शत्रोरेवैते) शत्रु के ही नही है"—(इति) इस प्रकार के (सम्बन्धविशेषम्) सम्बन्धविशेष के (स्वीकारपरिहारनियमा-नव्यवसायात्) स्वीकार या परित्याग के नियमो का ज्ञान न रहने के कारण (साधारण्येन प्रतीतै —) साधारणीकृत रूप मे ही प्रतीत या ज्ञानगोचर होते है।

(सामाजिकाना वासनात्मतया स्थित) सामाजिको के चित्त मे वासनारूप से स्थित (स्थायीरत्यादिक) जो स्थायीरत्यादिक भाव है वह (नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि) निश्चित ज्ञातृ-गत—प्रेक्षकविशेष मे—रूप में होता हुआ भी (साधारणोपायबलात्) साधारणीकृत विभावादि कारणो के बल से (तत्काल) नाटकदर्शन के समय मे ही (विगलितपरिमितप्रमातृभाववश) निश्चित ज्ञाता के भाव से भी विलग [अर्थात् प्रेक्षक आत्मसत्ता के ज्ञान से भी रहित हो जाता है] होकर (अभिव्यक्त) अभिव्यञ्जित होता है ।

(उन्मिषित) इस प्रकार से प्रकाशित (वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य) इतर ज्ञान के. सम्पर्क से रहित (अपरिमितभावेन) अनन्तभाव से

(सकलसहृदयसवादभाजा) सभी सहृदयो के राग का पात्र होता हुआ (साधारण्येन स्वाकार इवाऽभिन्नोऽपि) साधारणीकृत होकर भी अपने रूप से अभिन्न ही जो रत्यादि स्थायीभाव है वह (प्रमातृगोचरीकृत) सामाजिक द्वारा अनुभव का विषय होता है।

(चर्व्यमाणतैकप्राण) चर्वण—आस्वादन—मात्र ही जीवन के स्वरूप वाला, (विभावादिजीवितावधि) विभावादि की सत्तापर्यन्त जीवन की अवधि वाला (पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण) विलक्षण स्वादोत्पादक पानकरस-न्याय से आस्वादित होने वाला, (पुर इव परिस्फुरन्) सामने ही निर्झरित होता हुआ, (हृदयमिव) प्रविशन् हृदय मे समाता हुआ सा (सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्) सर्वाङ्ग को आलिङ्गन करता हुआ सा (अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्) अन्य सभी को तिरोहित करता हुआ सा (ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्) और ब्रह्मानन्द का आस्वादन कराता हुआ सा (अलौकिकचमत्कारकारी) लोकोत्तर चमत्कार का कर्ता (शृङ्गारादिको रस) शृङ्गारादिक रस है।"

अभिनवगुप्त के अनुसार रस का परिपाक निम्न प्रकार होता है—

"सामाजिक लौकिक व्यवहारो मे रति के कार्य-कारणो का अनुभव करता रहता है, जिससे रति बार-बार अनुमित होती है। यह अनुमान की गई रति सहृदय सामाजिक के हृदय मे सस्कार रूप से सन्निविष्ट हो जाती है।"—इस प्रकार के सामाजिक के सामने जब नट नकली कारण-कार्यादि (विभावादि) का विस्तार करता है तो वह काव्यार्थ के ज्ञान के पश्चात् उसका भावन व्यञ्जना शक्ति द्वारा करता है। फलत विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। और रजोगुण व तमोगुण का तिरोभाव होकर सत्त्वगुण के उद्रेक की अवस्था मे पूर्व कथित प्रकार से सस्कार रूप मे विद्यमान सामाजिक के रत्यादि स्थायीभाव रस रूप मे अभिव्यक्त होते हैं। यह रस की अभिव्यक्ति ही निष्पत्ति है।

अब हम इनकी मान्यताओ का समाहार इस प्रकार कह सकते है—

[क] रस की स्थिति सीधी सहृदय में ही, भट्टनायक की तरह, मानते है।

[ख] भट्टनायक का साधारणीकरण का सिद्धान्त भी स्वीकार करते हैं।

[ग] और भट्टनायक के—'काव्यानन्द की उद्रेकावस्था में रजोगुण व तमोगुण का तिरोभाव और सत्त्वगुण का आविर्भाव हो जाता है।" इस सिद्धान्त का भी समर्थन करते हैं।

[घ] मानव-आत्मा शाश्वत है। पूर्वजन्म व इस जन्म मे लौकिक व्यवहारो के ससर्ग से आत्मा के साथ कुछ वासनाएँ सस्कार रूप से सलग्न रहती हैं। ये मूल वासनाएँ ही स्थायीभाव है। काव्यानुशीलन या नाटक देखने से ये वासनाएँ उद्बुद्ध हो रस रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार रस अभिव्यक्त होता है। निष्पत्ति का अर्थ हुआ अभिव्यक्ति।

इस प्रकार से रस-समीक्षा के प्रसङ्ग मे उपन्यस्त उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और भुक्तिवाद के तीनो सिद्धान्त अनेक रूपो मे सदोष पाये गये। अत उन्हे अस्वीकार्य ठहराया गया। अभिनवगुप्त की व्याख्या सर्वाधिक समीचीन मानकर रसस्थिति सामाजिक मे स्वीकार की गई। और उनके अभिव्यक्तिवाद को भारतीय काव्यशास्त्र मे सर्व-सम्मत रूप मे ग्रहण किया गया। बाद में आने वाले मम्मट, विश्वनाथ आदि विद्वानो ने इसी मत को ग्रहण कर पुष्ट किया।

रस-परिपाक की प्रक्रिया को आधुनिक विद्वानो ने भी नवीन मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शात्र के प्रकाश मे देखने का प्रयत्न किया है।

विवेचन

उनकी मूलधारणा यह है कि रस का वैज्ञानिक विवेचन करने के लिये स्वतन्त्र चिन्तन आवश्यक है, भरत के सूत्र की व्याख्या का पल्ला पकडे रहने से सचाई की खोज का मार्ग सीमित हो जाता है। वे रस-

परिपाक-प्रक्रिया विवेचन के लिए "शाकुन्तलम्" की —मूल ऐतिहासिक घटना से लेकर 'राष्ट्रीय रङ्गशाला' देहली मे अभिनीत होकर प्रेक्षक को रस दान करने तक की – सम्पूर्ण क्रियाविधि का विश्लेषण करते है —

(i) सर्वप्रथम अति प्राचीन समय मे कण्व ऋषि के रम्य आश्रम मे दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखकर अपने हृदय मे रति का अनुभव अवश्य ही किया होगा।

(ii) इसके पश्चात् महाकवि कालिदास ने अपने अध्ययन-कक्ष मे बैठकर महाभारत मे वर्णित उक्त उपाख्यान को पढकर कल्पना के द्वारा उक्त रतिभाव का अनुभव किया होगा। मानव-सुलभ-सहानुभूति के कारण यह सर्वथा सम्भव है।

(iii) इसी प्रकार नाटक के शौकीन आधुनिक प्रेक्षक श्री अनिल और रम्भादेवी भी इतिहास पढकर कल्पना के द्वारा उस रति का अनुभव कर सकते है।

(iv) फिर महाकवि ने किसी स्मरणीय क्षण मे उस स्मृतिशेष अनुभूति के सस्कार का भावन करते हुए अपने हृदय मे पुन जाग्रत किया होगा और 'शाकुन्तलम्' के रूप मे शब्दबद्ध कर सदा के लिए अमर बना दिया।

(v) जब 'भारतीय गणतन्त्र समारोह' के अवसर पर राष्ट्रीय रङ्गशाला मे 'शाकुन्तलम्' का अभिनय किया गया तो अभिनेताओ ने भी उक्त रति का अनुभव किया होगा, क्योकि श्रेष्ठ अभिनय के लिए उसमे तल्लीन होकर अनुभूति ग्रहण करना आवश्यक है।

(vi) नाटक के शौकीन हमारे परिचित अनिल और रम्भादेवी दोनो ही नाटक देखने अवश्य गये होगे और उन्होने भी उसी रति का अनुभव किया होगा।

इस प्रकार ये छ अमुभूतियाँ हुई। इनमें 'रस' अनुभूति किसे कहे, यही विचारणीय है। देखने से पता चलता है कि ये अनुभूतियाँ तीन प्रकार की हैं—

(i) प्रत्यक्ष अनुभूति—दुष्यन्त और शकुन्तला की अनुभूति ऐसी ही है।

(ii) कल्पना में प्रत्यक्ष अनुभूति—जैसे महाभारत (इतिहास) में पढकर प्राप्त की गई कवि, अनिल और रम्भादेवी की अनुभूतियाँ।

(iii) प्रत्यक्ष या कल्पनात्मक अनुभूति के सस्कारो के भावन द्वारा उद्बुद्ध अनुभूति—जैसे 'शाकुन्तलम' के प्रणयन काल की कवि की अनुभूति तथा अभिनेताओ और प्रेक्षक रूप से उपस्थित अनिल व रम्भादेवी की अनुभूति।

कल्पनामूलक अनुभूतियाँ भी प्रत्यक्ष ही कही जा सकती है। अत प्रथम तीन अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष होने से भावमात्र है। वे प्रसङ्ग के अनुसार कटु भी हो सकती है। शेष तीन अनुभूतियो मे कवि की समृद्ध भाव-शक्ति का पुट है। उसका अपना हृदय तो भावुक होता ही हे परन्तु उसने भाषा के प्रतीको को भी वह शक्ति प्रदान कर दी है कि वे दूसरो मे भी वैसे ही भाव जागृत करा सके। अत इस भाव-प्रवणता के कारण वे तीनो अनुभूतियाँ भावित है और प्रत्येक अवस्था मे आनन्दमय होने का ही सामर्थ्य रखती है। इस कारण रस सज्ञा भी इन्ही की हो सकती है। अस्तु!

इस विश्लेषण से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि साक्षात् प्रत्यक्ष अथवा कल्पना मे प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभूति के सस्कार समृद्ध भाव-शक्ति के द्वारा भावित होते है, जिससे वे हर अवस्था में आनन्दमय ही होते है और 'रस' कहाते है।

इस कसौटी से मालूम पडा कि—

(i) रचना के समय कवि रस ग्रहण करता है ।

(ii) अभिनय के समय नट-नटी भी रस ग्रहण करते हैं ।

(iii) और सहृदय के वासनारूप से स्थित स्थायीभाव जागृत होकर रसदशा को पहुँचते ही है ।

अत रसस्थिति न केवल प्रेक्षक मे अपितु कवि और नट-नटी मे भी माननीय है । परन्तु रस—

(i) वस्तु में नही रहता ।

(ii) नायक-नायिका की सत्ता रस दृष्टि से निर्विशेष होती है । अत उनमे रस की स्थिति नही होती ।

आचार्यपाद	दर्शन	रस का बीज	रसनिष्पत्ति की प्रकिया	रस की स्थिति	न्याय	सूत्रार्थ	
						संयोग का अर्थ	निष्पत्ति का अर्थ
भट्टलोल्लट	मीमासक उत्पत्ति-वाद	अनुकार्य का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर (नटादि अनुकर्ताओ में) प्रेक्षक अनुकार्यों का आरोप कर लेता है। इससे उनके रस की प्रतीति होती है। रस-प्रतीति से प्रेक्षक के हृदय मे भी आनन्द (रस) उत्पन्न हो जाता है।	मूल रूप से अनु-कार्यों मे। गौण रूप से सामा-जिक मे।	कारण-कार्य भाव	विभाव, अनुभाव और सचारियो के सयोग से (आरोपित होने से—नाटकगत विभावादि पर अनुकार्य और उसके कारण-कार्यो का आरोप होने से) रसप्रतीति द्वारा रस उत्पन्न होता है।	
श्री शकुक	नैयायिक अनुमिति-वाद	अनुकार्य का स्थायी भाव	नट के अनुकरण पर प्रेक्षक अनुकार्यों का तादात्म्य कर लेता है। फिर उनके भाव (आनन्द या रस) का भी अनुमान कर लेता है। अनु-मित भाव ही रस है।	मूल रूप से अनु-कार्यों मे। गौण रूप से सामा-जिको में।	गम्य-गमक भाव	विभाव, अनुभाव और सचारियो के सयोग से (अनुकार्य के कारण-कार्य और सहयोगी कारण रूप से समझ लिए जाने पर) रस का अनुमान होता है।	

भट्टनायक	साख्य-वादी भुक्तिवाद	प्रेक्षक का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर से काव्यार्थ का ज्ञान (अभिधा द्वारा) होता है। इस विज्ञात रति एव विभावादि का साधारणीकरण भावकत्व द्वारा होता है। इस प्रकार साधारणीकृत विभावादि के साथ स्थायीभाव का उपभोग भुक्ति द्वारा होता है। यह भुक्ति ही रस है।	प्रेक्षक मे ही	भोज्य-भोजक भाव	विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो के सयोग से (*विज्ञात होकर भावित होने से*) प्रेक्षक के सस्कारो की *भुक्ति* होती है।
अभिनव-गुप्त	वेदान्ती अभि-व्यक्तिवाद	प्रेक्षक का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर से काव्यार्थ (भाव) का ज्ञान (अभिधा द्वारा) होता है। इस विज्ञात भाव और विभावादि का भावन (साधारणीकरण) व्यञ्जना वृत्ति द्वारा होता है। ऐसा होने पर प्रेक्षकगत सस्कार रूप स्थायीभाव अभिव्यक्त हो आस्वादित होते हैं।	प्रेक्षक मे ही	व्यग्य-व्यञ्जक भाव	विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो के सयोग से (*विज्ञात होकर भावित होने से*) प्रेक्षक के सस्कारो की *अभिव्यक्ति* होती है।

[२] रस का स्वरूप

सत्त्वोद्रेकादखण्ड-स्वप्रकाशानन्द-चिन्मयः,
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः ।
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः,
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

—साहित्यदर्पण ।३। २, ३ ॥

"सत्त्वगुण के प्राधान्य से यह अखण्ड, स्वत प्रकाशित, आनन्द चिन्मय (आनन्दस्वरूप ज्ञानमय), इतर ज्ञान से रहित, ब्रह्मानन्दसहदर और लोकोत्तर चमत्कार वाला 'रस' सहृदयो के द्वारा अपनी देह की तरह अभिन्न रूप मे (अर्थात् ज्ञातृज्ञान के भेद के बिना ही) आस्वादित होता है।"

आज का वैज्ञानिक निरीक्षण परीक्षण का विश्वासी होकर तत्त्वज्ञान की खोज मे सलग्न रहता है, जबकि पुरातन भारतीय मनीषी एकाग्रचित्त होकर अन्तर्दृष्टि के द्वारा विषय का समग्र रूप से दर्शन करते थे। विविध विज्ञानो की दुहाई देकर रस-स्वरूप-सम्बन्धी जो विस्तृत विवेचन किये जा रहे है उनमे तथ्य का उतना विशद चित्र नही रहता जितना कि विश्वनाथ ने ऊपर के दो सक्षिप्त श्लोको मे रख दिया है। इन श्लोको की शब्दावली में रस के जो विशेषण दिये गये है वे अत्यन्त अर्थपूर्ण है, प्रत्येक शब्द के पीछे विस्तृत चिन्ता-राशि का पृष्ठदेश है। सूत्र रूप में कहे गये उपर्युक्त रस-स्वरूप-परिचायक विशेषण हमारे समझने के लिए व्याख्या की अपेक्षा रखते है। इस प्रकार की व्याख्या को आधुनिक विद्वानो ने वैज्ञानिक कसौटी पर रखकर जब परखा तो उसे प्रायः सर्वथा वैज्ञानिक और खरा पाया। हमे भी यहाँ यह देखना है कि रस के स्वरूप की प्राचीन व्याख्या कहाँ तक तर्क-सगत है। प्रथम उन अर्थगर्भित विशेषणो को देख लेना सुविधाजनक रहेगा —

(*i*) सत्त्वोद्रेकात्—रस-निष्पत्ति मे सत्त्वगुण को हेतु माना है। जब रजोगुण और तमोगुण का तिरोभाव होकर सत्त्व का आविर्भाव हो जाता है तब रस-निष्पत्ति होती है। सत्त्वोद्रेक की इस अवस्था मे आस्वाद ही रस है, अत वह आस्वादित होने वाले रति आदि भाव से पृथक् है। अर्थात् रस भाव से भिन्न है। और इसी से हम कह सकते है कि शृ गार रस का अर्थ रति का अनुभव नही। डा० भगवानदास के शब्दो में—"भाव, क्षोभ, सरभ, सवेग, आवेग, उद्वेग आवेश, अँग्रेज़ी में इमोशन का अनुभव रस नही है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रतिसवेदन, आस्वादन रस है।"

(*ii*) अखण्ड—रसानुभूति की चेतना विभाव, अनुभाव आदि की खण्ड चेतना नही है अपितु उन सबकी सम्मिलित एक चेतना है।

(*iii*) स्वप्रकाश—रस के ज्ञान के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नही। रस स्वयमेव प्रकाशित होता है। जैसे ज्ञानान्तर अपने विषय घट को प्रकाशित करता है वैसे ही रस स्वय को प्रकाशित करता है।

(*iv*) आनन्दचिन्मय—रसानुभूति आनन्दमय है और चिन्मय, अर्थात् बुद्धि और इच्छापूर्वक होने वाली है। कतिपय अनैच्छिक शारीरिक क्रियाओ की तरह नही।

(*v*) वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य—रसानुभूति के समय उससे इतर अनुभूति की सत्ता नही रहती। इतर ज्ञेय के स्पर्श से रहित होती है।

(*vi*) ब्रह्मास्वादसहोदर—ब्रह्मास्वाद का प्रयोग इस तरह किया गया है मानो वह सर्व-जन-विदित हो। उस समय के आध्यात्मिक वातावरण मे इस निर्देश से रसानुभूति के आनन्द का कुछ आभास अवश्य ही हो जाता होगा। इसका आशय है कि रसानिभूति का आनन्द सवितर्क ब्रह्मानन्द का सजातीय है, अर्थात्

उसमे अहकार की भावना के होते हुए भी एकनिष्ठ तल्लीनता रहती है।

(*vii*) लोकोत्तरचमत्कारप्राण—अद्भुत विस्मय (चित्त का विस्तार) का आनन्द प्राण रूप होकर रसानुभूति मे रहता है। रति आदि की प्रतिष्ठा नायक-नायिका में होने के विपरीत रस सहृदय मे प्रतिष्ठित होता है, अत अलौकिक है।

(*viii*) स्वाकारवदभिन्नत्वेन—अपने शरीर की तरह अभिन्न रूप मे। यद्यपि हमारा शरीर हमसे भिन्न है फिर भी उसकी भिन्नता का उल्लेख किये बिना "मै स्थूल हूँ" ऐसा एकतासूचक कथन किया जाता है। इसी तरह ज्ञाता (प्रेक्षक या पाठक) और ज्ञान (रस) के भिन्न होते हुए भी अभिन्न रूप से ही आस्वादन होता है।

इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने रस के स्वरूप को हर तरफ से देखा और उसे सर्वथा असामान्य पाया, उसकी तुलना में कोई लौकिक पदार्थ न रख सके। अत उन्होने रस की मौलिक विशेषता—"अलौकिकत्व (निरालापन)"—ढूँढ निकाली, जिसकी व्याख्या निम्न प्रकार की गई —

(*i*) शकुन्तला के दर्शन से दुष्यन्त को जो रति का उद्‌बोध हुआ था वह एक ही व्यक्ति मे परिमित था। परन्तु रस काव्य द्वारा एक ही समय में अनेक व्यक्तियो मे प्रवाहित हो सकने के कारण अपरिमित है।

(*ii*) दुष्यन्तादि में उद्‌बुद्ध रति लौकिक है। तभी तो उसका दर्शन, पर-रहस्यदर्शन शिष्टसम्मत न होने से, अरुचिकर है। परन्तु काव्यादि के नायक-नायिका का रतिभाव साधारणीकृत होने से पर-रहस्य नही।

(*iii*) रस ज्ञाप्य नही है। होने पर अवश्य अनुभूत होता है क्योंकि वह स्वत प्रकाशी है। उस पर आवरण नही हा सकता। जैसे ज्ञाप्य घट प्रकाशक दीपादि के रहने पर भी ढके हुए होने से अदर्शित ही रहता है, ऐसे रस नही।

(*iv*) रस कार्य नही। यदि कार्य होता तो विभावादियो के न रहने पर भी उसकी प्रतीति सम्भव होती। जैसे घट अपने 'निमित्त-कारण' दण्डचक्रादि के बाद भी रहता है।

(*v*) रस नित्य भी नही। यदि वह नित्य होता तो "रस की अभिव्यक्यि हुई" ऐसा नही कहा जाता। साक्षात्कार का विषय होने के कारण भविष्यत्कालिक भी नही। तथा कार्य और ज्ञाप्य न होने के कारण उसे 'वर्तमान' भी नही कहा जा सकता।

इतनी बाते रस की सर्वथा अलौकिकता एव अनिर्वचीयता की सिद्धि के लिए काफी है।

आधुनिक दृष्टि

अब हमें रस का स्वरूप क्या है, इस समस्या का उत्तर आधुनिक वैज्ञानिको की दृष्टि से भी देखना आवश्यक है। क्या आधुनिक विद्वान् भी उन्ही परिणामो पर पहुँचते हैं जिन पर कि प्राचीन रसवादी स्थिर हुए ये ? हमारे सामने प्रश्न का रूप यह है कि काव्य या नाटक से प्राप्त होने वाला आनन्द ऐन्द्रिय है या आध्यात्मिक है, अथवा इन दोनो से विलक्षण किसी अन्य ही प्रकार का है ?

अनुभूति को हम स्थूल रूप से तीन प्रकार की मान सकते है—(१) ऐन्द्रिय (२) बौद्धिक और (३) आध्यात्मिक। जो लोग आत्मा की ही सत्ता को स्वीकार नही करते और अनात्मवादी होने की घोषणा करते हैं, उनकी दृष्टि से अनुभूति दो ही प्रकार की है।, उक्त तीनो प्रकार की अनुभूतियो के क्रमश उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते है। लौकिक शारीरिक रति या चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय है। ग्रन्थसमाप्ति पर प्रणेता

को जो आनन्द होता है वह बौद्धिक और योगी का ब्रह्मसाक्षात्कार का आनन्द आध्यात्मिक कहा जा सकता है। अनुभूतिविषयक आत्म और अनात्म वादियो का उक्त विभाजन निम्न प्रकार रख सकते है —
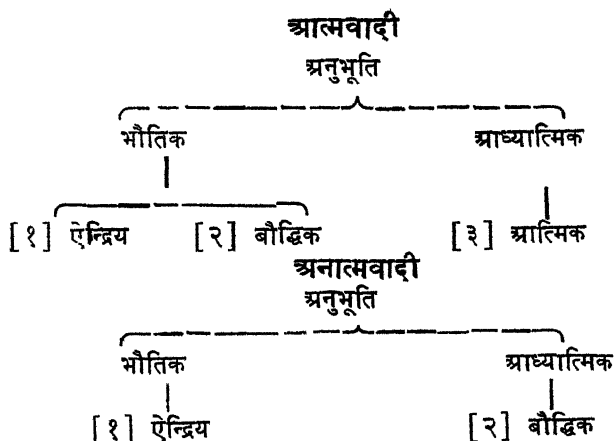
अब हमे देखना है कि काव्यानुभूति इनमे से किस प्रकार की है ? स्वदेश-विदेश के विद्वान् अपनी-अपनी कल्पनाओ और तर्क-प्रणालियो के द्वारा सभी सम्भव मान्यताओ की प्रतिष्ठा कर चुके है। तदनुसार काव्यानुभूति सम्बन्धी निम्न तीन मान्यताएँ सामने आती है —

[१] काव्यानुभूति का आनन्द ऐन्द्रिय है। इसके पुरस्कर्ता प्लेटो आदि है। उनकी दृष्टि मे वह आत्मा (बुद्धि) की सौन्दर्यानुभूति से भिन्न है, अत निम्न कोटि की है।

[२] काव्यानुभूति का आनन्द आध्यात्मिक है। काव्यसौन्दर्य-रूप आत्मा की अभिव्यक्ति होने से आनन्दमय है, और इसीलिये यह आनन्द आध्यात्मिक है। हीगल और कवीन्द्र रवीन्द्र की यही मान्यता है।

[३] काव्यानुभूति न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। इस स्थापना के अन्तर्गत आने वाली मान्यताओ के निम्न तीन प्रकार है —

(i) काव्यानन्द न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। वह कल्पना का आनन्द है। अर्थात् मूल वस्तु के रूप और कला द्वारा अनुकृत रूप मे जो समता है उसके भावन से प्राप्त होने वाला आनन्द है, जो न ऐन्द्रिय है और न आध्यात्मिक। इस मत के प्रस्तोता एडीसन हैं।

(ii) काव्यानुभूति न ऐन्द्रिय है न बौद्धिक अपितु इन दोनो की मध्यवर्ती 'सहजानुभूति' है। सहजानुभूति क्या है ? इसकी अपनी विशिष्ट व्याख्या है। इस मत के प्रतिपादक बैनेडेटो क्रोचे हैं। उनके अनुसार मानव-प्राण-चेतना में सहाजानुभूति की एक पृथक् शक्ति होती है। काव्यानुभूति इसी का गुण है। उस शक्ति का निर्माण बौद्धिक धारणाओ और ऐन्द्रिय सवेदनो द्वारा न होकर बिम्बो द्वारा होता है।

(iii) काव्यानन्द न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। यह एक निरपेक्ष अनुभूति है। इसे हम विशिष्ट प्रकार का अलौकिक आनन्द कह सकते है, जिसकी तुलना मे किसी भी लौकिक आनन्द को नही रखा जा सकता। यह मत प्राचीन है, परन्तु इस युग मे ब्रैडले आदि ने इसका मण्डन विशेष रूप से किया है।

यहाँ पर उपयुक्त मान्यताओ की क्रमश परीक्षा करना आवश्यक है। यह कहने की आवश्यकता नही कि काव्यानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न है, क्योकि एक साधारण व्यक्ति भी यह जानता है कि नाटक देखने से मुझे आनन्द ही मिलेगा, चाहे वह नाटक दुखान्त ही क्यो न हो। अत. यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि काव्यानुभूति आनन्दस्वरूप ही होने के कारण लौकिक एव ऐन्द्रिय सुख-दुखात्मक अनुभूतियो से भिन्न है।

अनात्मवादियो के लिए तो काव्यानुभूति को आध्यात्मिक मानने का प्रश्न ही नही उठता। इसके अतिरिक्त आत्मवादियो को भी काव्या-

नन्द मे आध्यात्मिक आनन्द की वह शान्त गम्भीर ध्वनि नही सुनाई दे सकती, जिसे योगी लोग प्राप्त करते हैं । योग का उक्त आनन्द स्थायी होता है और काव्यानन्द क्षणिक है । अत काव्यानन्द आध्यात्मिक भी नही कहा जा सकता ।

इसी तरह एडीसन के 'कल्पना के आनन्द' और क्रोचे की 'सहजानुभूति' की विचित्र शक्ति को मनोविज्ञान मे स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे स्थान नही दिया जा सकता । कल्पना तो मन और बुद्धि की क्रिया है । अत कल्पना का आनन्द नि सन्देह ऐन्द्रिय आनन्द होगा, जो काव्यानन्द नही कहा जा सकता । क्रोचे की सहजानुभूति की शक्ति को भी सभी वैज्ञानिकों ने एकस्वर से अमान्य ठहरा दिया है । अत उपरोक्त मतो मे से कोई भी मत आज के मनोविज्ञान के विद्यार्थी को सन्तोष प्रदान नही करता ।

केवल अन्तिम मत प्राचीन रस-सिद्धात मे वर्णित रस के स्वरूप से मेल खाता है। उसके सम्बन्ध मे भी कुछ विद्वानो का निम्न प्रकार आक्षेप है। उनका कहना है कि उक्त मत की मान्यता की स्वीकृति के लिए विपुल श्रद्धा की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक के पास नही होती । श्रद्धावश काव्यानन्द को अलौकिक, लोकोत्तर और अनिर्वचनीय कहते रहने से तथ्य का उद्घाटन नही होता । यह तो एक प्रकार से समस्या को छोडकर पलायन है । ये विद्वान् काव्यानुशीलन और नाटक देखने की दशाओ का स्वतन्त्र रूप से पर्यवेक्षण करते हुए सर्वथा स्वतन्त्र मत की स्थापना करते है । उनकी दृष्टि से रतिकाल में व्यक्ति की चित्त की विद्रुति और रोमाञ्च आदि जिस प्रकार के सवेदन होते है, वैसे ही सवेदन नाटक देखते समय भी अवश्य होते है । ये सब ऐन्द्रिय ही है । अत यह बात प्रत्यक्ष है कि काव्यानुभूति मे ऐन्द्रिय अश अवश्य रहता है । यह बात दूसरी है कि यह ऐन्द्रियता किस प्रकार की है । विचार करने पर ज्ञात होता है कि ऐन्द्रिय आनन्द और काव्यानन्द में समता होने पर भी एक प्रकार की

भिन्नता अवश्य है। यह भिन्नता सिर्फ प्रत्यक्षता एव तीव्रता की ही कही जा सकती है। प्रथम अवस्था मे चुम्बन आदि द्वारा प्राप्त होने वाला आनन्द प्रत्यक्ष और तीव्रतर है। काव्यानन्द मे उतनी प्रत्यक्षता और तीव्रता नही रहती। इसका कारण यह है कि काव्यानुभूति प्रत्यक्ष मूल घटना की अनुभूति नही है। मूल घटना का कवि को सर्वप्रथम इन्द्रिय सन्निकर्ष या कल्पनात्मक सन्निकर्ष होता है। तदनन्तर कवि उसका भावन करता है। इस भावित घटना का भावन दर्शक करता है। भावन मे दोनो को बुद्धि व मन का उपयोग करना होता है। अत दर्शक या पाठक की अनुभूति भावित (Contemplated) घटना पर निर्भर रहती है जिससे उसे भावित अनुभूति कहते हैं। और उसकी यह भावित अनुभूति सूक्ष्म और प्रत्यक्ष ही होती है। इस प्रकार वे इस परिणाम पर पहुँचते है कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, पर वह भावित अनुभूति है।

भावित अनुभूति का तात्पर्य केवल इतना है कि उसमे प्रत्याक्षानुभूति जैसी स्थूलता एव तीव्रता नही होती। अनुभूति का स्वरूप भी यह कहकर स्पष्ट किया जा सकता है कि वह सवेदनात्मक होती है, अर्थात् काव्यानुभूति के सवेदन मानसिक सवेदनो से सूक्ष्मतर और विश्लेषणात्मक-बौद्धिक सवेदनो से कुछ अधिक स्पष्ट होते हैं। इस प्रकार उक्त विद्वानो के इस विवेचनका साराश यह निकला कि काव्यानुभूति का आनन्द बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियो के अन्तर्गत सवेदन रूप ही है। परन्तु सवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और बिम्ब रूप होते हैं।

यह विवेचन नया नही। इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए प्राचीन आचार्य भी यही पहुँचे थे। उन्होने देखा कि अन्य अनुभूतियो की तरह जब काव्यानुभुति भी ऐन्द्रिय है तो फिर वही समस्या सामने आती है कि कटु सवेदनो से कटु अनुभूति क्यो नही होती ? उक्त आधुनिक वैज्ञानिक तो यह कहकर कि काव्यानुभूति भावित होने से व्यवस्थित हो

कहकर समस्या को सुलझाना नही, पनायन है" विशेषणो की गहराई तक न पहुँचना है। यदि विशेषणो की गहराई पर ध्यान दिया जाय तो समस्या सुलझी हुई दीखेगी।

इन दोनो दृष्टिकोणो को तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि इस का स्वरूप दोनो पक्षो में एक ही स्थिर किया गया है, अर्थात् इन्द्रियानन्द से कुछ अधिक और आध्यात्मिक आनन्द से कम। अन्तर केवल इतना है कि उस स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जो शब्दावली ग्रहण की गई है वह भिन्न-भिन्न है।

प्राचीनो ने रस-स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जो विशिष्ट शब्दावली ग्रहण की है उसकी उपयुक्ता और वैज्ञानिकता निम्न दो कारणो से और भी पुष्टि होती है—

(i) एक तो रस अनिवार्यत आनन्दमयी चेतना है। इस तथ्य की सिद्धि के लिए किसी लम्बे-चौड़े तर्क की आवश्यकता नही। सभी का अनुभव है कि सत्काव्य के अनुशीलन या नाटक को देखने से आनन्द ही प्राप्त होता है। उस समय सासारिक द्विविधाओ मे सलिप्त व्यक्ति भी सुखसागर मे निमग्न हो नोन-तेल की चिन्ता-व्याधियो से मुक्त हो जाता है।

(ii) और दूसरे यह कि रस भाव से पृथक् है, इसी कारण करुण और वीभत्स रस क्रमश शोक और जुगुप्सा से पैदा होने पर भी ग्राह्य ही बने रहते है। इसी प्रकार श्रृंगार रस शारीरिक रति नही है। परन्तु इतना निश्चित है कि रस अपने भावो से सम्बद्ध अवश्य है, रतिभाव से श्रृंगार रस ही निष्पन्न हो सकता है।

सक्षेपत यही कहा जा सकता है कि आधुनिक विद्वान् अपनी वैज्ञानिक शब्दावली मे रस के जिस स्वरूप को प्रकट करते है, प्राचीन सस्कृत-साहित्य मे उसी को एक अर्थगर्भित आध्यात्मिक शब्दावली मे रखा गया है।

अलंकार-सम्प्रदाय

काव्य की प्रेरक प्रवृत्तियां और कवि

मानव-मात्र मे प्रेम, दया आदि मानसिक वृत्तियो, प्रकृति के नाना रूपो से उद्भूत मनोविकारो, परिस्थितिजन्य अनुभवो और विचारो, आकाक्षाओ एव कल्पनाओ को प्रकट करने और सुनने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसके साथ ही सौन्दर्य-प्रियता की भावना भी सभ्य समाज मे सर्वत्र पाई जाती है। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियो के कारण हम अपने मनोभावो को सुन्दरता के साथ प्रकट करने के लिए यत्नशील होते हैं। परन्तु सभी व्यक्ति समान रूप से अपने भावो को आकलन करने एव उसमे छिपे रहस्य का भावन करने और उन्हे सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त करने मे योग्य नही होते। कुछ व्यक्तियो मे ऐसी स्वाभाविक प्रतिभा होती है, जिसके कारण वे उक्त कार्य का सम्पादन ऐसे आकर्षक एव रुचिर ढग से करते है जिसके कारण वह सर्वप्रिय होता है। ऐसे ही व्यक्ति निसर्ग-सिद्ध कवि कहाते हैं। इनके कर्तृत्व के फलस्वरूप ससार मे काव्य-लोक की सृष्टि सम्भव हुई है।

कवित्व के आधार पर काव्य के दो पक्ष

उक्त कथन से यह बात प्रकट होती है कि कवि मे भावुकता (भाव रूप रहस्यदर्शन का सामर्थ्य) और सौन्दर्य के साथ कह देने की विशेष क्षमता होती है। इसके आधार पर काव्य के दो पक्ष निश्चित किये जा सकते है :—[१] एक तो भावपक्ष या अनुभूति-पक्ष और दूसरा [२] कलापक्ष। भावपक्ष मे काव्य का अन्तर्निहित रहस्य या अनुभूति विशिष्ट आती है और कलापक्ष मे उक्त अनुभूति को अभिव्यञ्जित करने का समग्र कौशल।

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र की दृष्टि से काव्य के चार तत्त्व माने गये है—रागात्मकता, कल्पना, बौद्धिकता और कलात्मकता। कवि किसी रागात्मक भाव को कल्पना की सहायता से औचित्य एव सगतिपूर्वक कलामयी कृति के रूप मे प्रस्तुत करता है। इसकी इस कृति म भी वस्तुत वे ही दो तत्त्व, भावपक्ष और कलापक्ष, ही झलकते है। इसका मतलब यह हुआ कि पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र-सम्मत कथित चार काव्यतत्त्व भी वस्तुत. इन्ही दो पक्षो मे समाहृत किये जा सकते है।

काव्य के उभय पक्षो में अन्य तत्त्वो का समाहार

हमारे यहाँ अलकार-शास्त्र का इतिहास देखने से पता चलता है कि रस, अलकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति सम्प्रदायो मे काफ़ी स्पर्धा रही है, और प्रत्येक वर्ग के आचार्यों का यह प्रयत्न रहा कि वे यह प्रमाणित कर सके कि काव्य का मूलभूत तत्त्व या आत्मा उनके प्रतिपादन के अनुसार ही है। इन पाँचो सम्प्रदायो के मूल मे यह बात लक्षित होती है कि कोई आचार्य तो काव्यात्मा की खोज करते हुए कलापक्ष तक पहुँचे, कोई भावपक्ष तक और किन्ही ने दोनो पक्षो का समन्वित रूप ढूँढ निकाला। इनमे रस और ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य भावपक्ष की तथा शेष कलापक्ष की मुख्यता में विश्वास रखते है। हमारा आशय निम्न कोष्ठक से प्रकट होगा।

भारतीय काव्यमतो का उक्त उभय पक्षो के साथ सम्बन्ध

१ भावपक्ष	१	भरत, विश्वनाथ	रस काव्यात्मा है।
	२	आनन्दवर्धन	ध्वनि ,, ,,
२ कलापक्ष	३	दण्डी, भामह, केशव	अलकार ,, ,,
	४	कुन्तक	वक्रोक्ति ,, ,,
	५	वामन	रीति ,,

काव्य के मूल तत्त्वो की खोज करते समय—"काव्य मे दो पक्ष—भावपक्ष और कलापक्ष—होते है" अथवा "काव्यात्मा ध्वनि या रसादि होते है" इन दोनो कथनो मे कोई विशेष सैद्धान्तिक मतभेद नही है, केवल कहने का ढग अलग-अलग है। हॉ, काव्यात्मा का निर्देश करते समय जरा इस बात के स्पष्टीकरण का सयोग अधिक रहता है कि काव्य के उक्त दोनो पक्षो की मान्यता स्वीकार करते हुए भी इनमें भी प्राधान्य-गौणत्व का विवेक कर सके। ऐसा होने से काव्य के सुसगत लक्षण के लिए एकमात्र आधार निश्चित रूप से हाथ लग सकता है, क्योकि हमारे यहाँ काव्य-लक्षण के लिए काव्यात्मा की खोज आवश्यक समझी गई है ताकि काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष को समान नही, अपितु उचित स्थान प्राप्त हो सके।

विवेचन के दो प्रकार

कहना न होगा कि काव्य का वही लक्षण समीचीन हो सकता है जिसमे काव्य के उक्त उभय पक्षो को उचित सतुलन मे रखा जा सके।

मम्मटाचार्य-कृत काव्य की परिभाषा—**तपदोषौ शब्दार्थौ सगुणा-वनलकति पुन· क्वापि**—(दोष-रहित गुण वाली रचना चाहे वह सालकार न भी हो)—भावपक्ष और कलापक्ष को औचित्य प्रदान करने की दृष्टि से बडी शिथिल है। गुणवती कह देने मात्र से भावपक्ष का कथन तो हुआ ही नही (क्योकि गुण काव्यात्मा के धर्म है, काव्यात्मा नही), साथ ही कलात्मकता की भी कोई गारटी नही की गई, अपितु अलकारो के अभाव मे भी काव्यत्व स्वीकार किया गया है। इसमें भावात्मक कलापक्ष का सर्वथा अभाव रहा। विश्वनाथ ने मम्मट के इस लक्षण की। अनेक प्रकार से तीव्र समालोचना कर "**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**" यह परिभाषा प्रस्तुत की, इसमे रसवत्ता का स्पष्टतया कथन कर काव्य के भावपक्ष या अनुभूतिपक्ष को पूर्णतया

भारतीय काव्य लक्षण

मान्यता प्रदान करते हुए भी कलापक्ष का नामोल्लेख तक नही किया। अत एकाकी ही रही । पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा— **"रमणीयार्थप्रतिपादक. शब्दः काव्यम्"**—इससे कही व्यापक है। क्योकि रमणीय अर्थ के प्रतिपादन मे शब्द को हर तरह से (कलात्मकरूपेण भी) उपयुक्त होना चाहिये, यह सकेत तो निकलता ही है । आनन्द-वर्धनाचार्य ने सीधा काव्यलक्षण न करके काव्यात्मा रूप ध्वनि (व्यग्यभूत अर्थ) पर ही जोर दिया। ध्वनि मे भी रसध्वनि को सर्वथा विलक्षण [**तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्व कथञ्चित्** (अत अन्वयव्यतिरेक से रसादि, वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त —ध्वनित—ही होते है। किसी भी अवस्था मे वाच्य नही होते] बताते हुए श्रेष्ठ काव्य में रसत्व (रागतत्त्व या अनुभूतिपक्ष) और ध्वनित्व (व्यजनत्व अर्थात् कलापक्ष) दोनो को उचित रूप से आवश्यक ठहराया। इनकी कमी या अप्रधान्य के साथ-साथ काव्य का दर्जा भी कम किया गया। काव्य के उभय पक्षो का रसत्व और ध्वनित्व जैसे समर्थ एव व्यापक शब्दो मे जिस खूबी के साथ कथन किया वह ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वमान्यता के लिए वरदान सिद्ध हुआ। अस्तु !

तो काव्य के स्वरूप के उद्घाटन मे पण्डितराज जगन्नाथ का लक्षण और आनन्दवर्धन की काव्यात्मा की व्याख्या, हमारी कसौटी के अनुसार, सर्वाधिक समीचीन है। तदनुसार रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना गया है । रमणीय अर्थ के दो साधन है—[१] व्यञ्जना और [२] अलकार।

रमणीय अर्थ के दो साधन

इस प्रकरण मे हमे अलकारो से सम्बन्धित अलकार-सम्प्रदाय की ही चर्चा करनी अभीष्ट है। अलकार वस्तुत भावो को व्यक्त करने अथवा रूप देने के सुघड साँचे हैं ।

अलकार का शाब्दिक अर्थ है—सौन्दर्य का साधन। **"अलंकरोतीति" अलंकार** अथवा **"अलंक्रियतेऽनेन" इत्यलंकारः** ये दो व्युत्पत्तियाँ की जाती है। प्रथम व्युत्पत्ति में अलकार सौन्दर्य का विधायक और दूसरी मे साधन ठहरता है। दोनो का आशय एक ही है। फिर भी ये दोनो व्युत्पत्तियाँ अलकार-सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास-क्रम की ओर निर्देश करती है। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के पूर्व कम-से-कम श्रव्य काव्य के क्षेत्र मे तो अलकार-सम्प्रदाय का ही एकच्छत्र राज्य था। अलकारो को काव्य की शोभा का विधायक समझा जाता था। उस समय दण्डीकृत निम्न परिभाषा का ही बोल-बाला था—

अलंकार का शाब्दिक अर्थ

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते।

"अलकार काव्य के शोभाकारक धर्म है।" इस परिभाषा से अलकारो के सम्बन्ध मे निम्न दो बातो पर प्रकाश पडता है—

[१] काव्य मे जो सौन्दर्य है उसका कारण एकमात्र अलकार ही है। वे ही शोभा के विधायक है।

[२] और चूँकि काव्य मे सौन्दर्य रहता ही है अत उसके कारण-भूत अलकार भी अवश्य उपस्थित रहेगे। इसका मतलब हुआ कि अलकार काव्य के नित्य धर्म है।

ध्वनिकार ने जब काव्यात्मा ध्वनि को स्थिर कर दिया तो अलकारो से सम्बन्धित धारणाओ की जडे हिल गई। उन्होने अलकारो और गुणो मे भेद बताते हुए काव्य के शरीर-भूत शब्द अर्थ के अस्थिर धर्म के रूप में इन्हे स्वीकार किया। ध्वनिकार के अनुसार अलकार के सम्बन्ध मे निम्न मान्यताएँ स्वीकृत की गई।

[१] काव्य के शरीर-भूत शब्द अर्थ के उपकारक होने से अलकार काव्यात्मा के परम्परया उपकारक है।

[२] अलकार काव्य के नित्य धर्म नही, वे अस्थिर धर्म है। उनके बिना भी काव्यत्व देखा जाता है।

[३] अलकार काव्य की शोभा की सृष्टि नही करते, उसे बढा ही सकते है।

इस प्रकार अलकारो को काव्य-शोभा के विधायक की जगह साधन माना जाने लगा। इसी आधार पर परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने अलकारो का लक्षण निम्न प्रकार किया—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

"शोभा को बढाने वाले और रसादि के उपकारक जो शब्द अर्थ के अनित्य धर्म है वे अङ्गद (आभूषणविशेष) आदि की तरह अलकार कहाते है।"

भामह ने अलकारो को काव्य का प्राण बताते हुए अलकारो की भी आत्मा वक्रोक्ति को माना है। इसके विपरीत दण्डी ने अलकारो की प्रेरक शक्ति, अतिशयोक्ति को ठहराया है।

अलकारों की मूल प्रेरणा क्या है?

विचार करने पर ज्ञात होता है कि अलकारो की आत्मा या मूल प्रवृत्ति की खोज करते हुए दोनो आचार्य प्राय एक ही तत्त्व पर पहुँचे थे। नाम का भेद होते हुए भी दोनो का आशय एक ही वस्तु से है। भामह की वक्रोक्ति अतिशय ही है। इसी बात का निर्देश 'काव्यप्रकाश' की टीका मे किया गया है—

"एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्।"

जिस तरह लोक मे आत्मोत्कर्ष के प्रदर्शन के लिए स्त्रियाँ आभूषण धारण करती है या पुरुष अपने को वस्त्रादिको से सजाते है उसी तरह

मन के उत्कर्ष या अतिशय की अभिव्यक्ति का साधन वाणी के अलकार है। मन के उत्कर्ष का आशय है भावोद्दीप्ति की अवस्था। जब हमारे भाव उद्दीप्त हो जाते है तो शरीर के रोम-रोम मे आवेग या अतिशय प्रस्फुटित होने लगता है। यही आवेग वाणी के माध्यम में अलकारो का रूप धारण कर लेता है। साराश यह है कि भावोद्दीपन के कारण हमारी वाणी स्वाभाविक रूप से अलकृत (अतिशयित) हो जाती है, क्योकि ऐसा करने से भीतर के मानसिक विस्फार या अतिशय का बाह्य रूप से प्रदर्शन हो जाता है, जिससे हमे तुष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, भामह और दण्डी का यह अभिमत कि अलकारो का प्राण अतिशयोक्ति है, ठीक है। यही तथ्य 'काव्यप्रकाश' मे भी स्वीकार किया गया है—

"**सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेमावतिष्ठते। तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्।**"

अलकारों का मनोवैज्ञानिक आधार और वर्गीकरण

अलकारो के विकास को देखते हुए यह मालूम पडता है कि उनकी विषम-सीमा तथा सख्या सर्वथा अनिश्चित सी है। भरत ने केवल चार अलकारो का उल्लेख किया है, जबकि मम्मट ने यह सख्या ७० तक पहुँचा दी। ऐसी अवस्था मे अलकारो में समन्वय के सूत्र की खोज सर्वथा स्वाभाविक थी। इस दिशा में सर्वप्रथम रुद्रट् ने अलकारो का वर्गीकरण वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर किया। यद्यपि रुद्रट् का यह वर्ग-विभाजन सर्वथा वैज्ञानिक नही था तो भी उनका प्रयत्न एक सुष्ठु दिशा का निर्देशक बन सका। बाद मे रुय्यक ने अलकारो के सात वर्ग बनाये —

[१] सादृश्यमूलक (उपमा, रूपक आदि)।
[२] विरोधमूलक (विरोध, विभावना आदि)।
[३] शृङ्खलाबन्धक (कारणमाला, एकावली आदि)।

[४] तर्कन्यायमूलक (काव्यलिङ्ग, अनुमान आदि)।
[५] काव्यन्यायमूलक (यथासख्य, पर्याय आदि)।
[६] लोकन्यायमूलक (प्रत्यनीक, प्रतीप आदि)।
[७] गूढार्थप्रतीतिमूलक (सूक्ष्म, व्याजोक्ति आदि)।

ये अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होते है।

विश्वनाथ और विद्याधर ने इनमे कुछ सशोधन करने का यत्न किया। और अब भी आधुनिक विद्वान् इस दिशा मे प्रयत्नशील है। सुब्रह्मण्य शर्मा और श्री ब्रजरत्न जी ने क्रमश. आठ और पाँच वर्ग निश्चित किये है। परन्तु वर्गीकरण के ये सभी प्रयत्न सन्तोषजनक सिद्ध न हो सके। इस असफलता का कारण यह समझा जा सकता है कि अलकारो के स्वरूप-निर्धारक उपादानो का क्षेत्र ही अपने आपमे विविध विषयक एव असीमित है। उदाहरणार्थ हम देखते है कि कुछ अलकार काव्य-शैली से सम्बन्ध रखते है तो दूसरे तर्क और न्याय का आश्रय लेते है।

डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' मे विवेचन करते हुए, अलकारो का प्रयोग किसलिए करते है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि—"उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।" उनके मत मे उक्ति को प्रभावशाली बनाने के छ प्रकार है—स्पष्टता के लिए साधर्म्य, विस्तार के लिए अतिशय, आश्चर्य के लिए वैषम्य, अन्विति के लिए औचित्य, जिज्ञासा के लिए वक्रता और कौतूहल के लिए चमत्कार-मूलक अलकारो का प्रयोग। तदनुसार—"अलकारो के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार है।"

यह बात स्पष्ट है कि अलकारो की सख्या निश्चित नही की जा सकती, क्योकि उनके उपादानो का क्षेत्र ही असीमित है—(**अनन्ता हि वाग्विकल्पा. । तत्प्रकारा एव अलकारा —ध्वन्यालोक**।) ऐसी अवस्था मे वर्गीकरण के लिए सर्वथा युक्तियुक्त और परिपूर्ण आधारो को

खोज निकालना एक प्रकार से असभव ही है। और यदि वे आधार भी अलकारो की सख्या की तरह अनिश्चित होते चले जाये तो उनका ढूढना ही निष्प्रयोजन है। इन कारणो से वर्गीकरण के सभी प्रयत्न असन्तोष-जनक हो तो कोई आश्चर्य नही। इस दिशा में हमारी जिज्ञासा की सन्तुष्टि का एकमात्र यही आधार हो सकता है कि अलकारमात्र के मूल मे भावोद्दीप्ति या अतिशय ही रहता है। आद्याचार्य भामह और दण्डी ने भी इतने से ही सन्तोष किया था।

अलकारो का प्रयोग किसलिए करते है? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जाता है कि उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।

काव्य मे अलकारो का स्थान

प्रभावोत्पादन की आवश्यकता काव्य मे ही नही अपितु व्यवहार मे भी रहती है। सर्वसाधारण लोग भी अपने रात-दिन के काम-काज मे अपनी वाणी को सबल बनाने के लिए अलकारो का प्रयोग करते है। किसी लीडर की प्रशसा मे—"आप मनुष्य नही देवता है" ऐसा कहा ही जाता है। इसी प्रकार "साम्राज्यवाद की चक्की मे देश पिस रहा था" आदि वाक्य पार्टी-प्रोपेगण्डा के सिलसिले मे अक्सर कान मे पडते रहते है।

परन्तु इसके आगे, काव्य मे अलकारो का प्रयोग क्यो किया जाता है, जब यह प्रश्न सामने आता है तो केवल "प्रभावोत्पादन के लिए" इतनाभर कहना पर्याप्त नही। प्रभावोत्पादकता की खोजबीन भी आवश्यक हो जाती है। अलकारो के द्वारा काव्य मे बहुत कुछ सिद्ध होता है। सौन्दर्य काव्य मे खास वस्तु है। चित्रण को स्पष्टता देने की भी आवश्यकता पड ही जाती है, इत्यादि। अत हमे कहना पडेगा कि अलकारो के द्वारा काव्य में सौन्दर्य, स्पष्टता और प्रभावोत्पादन आदि सभी की अभिवृद्धि लक्ष्य रहता है। शुक्ल जी अलकारो का लक्षण करते हुए उनके प्रयोग के क्षेत्र की विविधता की ओर निर्देश करते है—

"वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी-कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढाकर दिखाना पडता है, कभी उसके रूप-रग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और-और वस्तुओ को सामने लाकर रखना पडता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर भी कहना पडता हे । इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढग अलकार कहाते हैं।" अब एक उदाहरण लेते है—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुर सर. ।
अहो दैवगति कीदृक् तथापि न समागम. ॥

"सन्ध्या (या नायिका) लालिमा (पक्षान्तर मे अनुराग या प्रीति) से युक्त है और दिवस (अथवा नायक) उसके सामने ही बढा आ रहा है (सामने आ रहा है), पर ओहो ! दैवगति कैसी है कि फिर भी उनका मिलन (समागम) नही होता।"

यहाँ समासोक्ति अलकार के द्वारा अप्रस्तुत जो नायक-नायिका-गत व्यवहार प्रतीत होता है उसके कारण उक्ति मे सौन्दर्य आ गया है। और समान विशेषणो की महिमा से नायक-नायिका की विरह-गति मूर्त हो उठी है, जिससे चित्र में स्पष्टता आ गई है।

इसी प्रकार सूर्योदय के दो प्रसिद्ध चित्र अपनी नवस्फूर्तिमयी उद्बोधक आभा बिखेरने के कारण प्रशसनीय है —

सखि ! नील नभस्सर में उतरा
यह हंस अहा ! तरता-तरता,
अब तारक मौक्तिक शेष नही
निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता-धरता

गड जायँ न कण्टक भूतल के
कर डाल रह डरता-डरता।
—मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ श्लिष्ट-परम्परित-रूपकालकार ने प्रात कालीन सूर्य में राजहस की सम्पूर्ण शोभा सञ्चित कर दी है।

बीती विभावरी, जाग री
अम्बर पनघट में डुबा रही,
तारा-घट ऊषा-नागरी। —जयशंकरप्रसाद

रूपक अलकार के सामर्थ्य से ऊषा ने जो विदग्ध-सुन्दरी का रूप धारण कर लिया है उससे सम्पूर्ण वातावरण सजीव हो उठा है, और प्रात कालीन कलरव स्पष्ट सुनाई देता है।

अलकार की प्रभावोत्पादकता इस बात मे होती है कि वह कवि के भावो को श्रोता के मन तक कितने वेग से प्रेषणीय बना देता है। श्रोता के मन में भी कवि के भाव उतनी ही तीव्रता से उबाल खा जायँ इसके लिए वस्तु का 'बिम्ब-ग्रहण' कराना होगा। यह कार्य भी अलकारो द्वारा बडी उत्तमता से सम्पन्न होता है, जैसे —

नव प्रभा-परमोज्ज्वल लीक सी,
गतिमती कुटिला फणिनी समा।
दमकती दुरती घन अंक में,
विपुल केलि कला खानि दामिनी॥—हरिऔध

'दमकती दामिनी' का बिम्ब 'गतिमती-कुटिला-सर्पिणी' के द्वारा श्रोता के मानस-पटल पर विद्युत्गति से ही चमक उठता है, क्योकि दामिनी की तरह सर्पिणी भी कुटिल-गति-धर्मा और आतक-परि-पूर्ण है।

उक्त विवेचन के साथ-साथ यह प्रश्न भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि क्या काव्य में अलकार अनिवार्य है ?

कलापक्ष को ही प्रधान्य देने वाले अलकार-साम्प्रदायिको की तो मान्यता है कि काव्य मे अलकार आवश्यक है, उनके बिना काव्यत्व सम्भव नही। अर्थात् अलकार काव्य के नित्य-धर्म ही है। जयदेव ने 'चन्द्रालोक' मे साग्रह प्रश्न किया—

क्या काव्य में अलकार अनिवार्य हैं ?

अंगीकरोति य· काव्य शब्दार्थावनलकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती ?

रस-भावादि का तत्त्व समझने वाले आचार्यो के लिए इसका उत्तर स्पष्ट था। उन्होने न केवल अलकारो का ही, अपितु अलकार्य (रस) का भी पता पा लिया था। भाव के अभाव मे वे किसी प्रकार भी काव्यत्व नही स्वीकार कर सकते। क्या लोक-व्यवहार मे पाई जाने वाली लच्छेदार और अलकृत बातचीत काव्य कही जा सकती है ? क्या मुर्दे को अलकार धारण करवाकर सजीवता प्रदान की जा सकती है ? यदि नही, तो रस-भाव रूप आत्मा के बिना काव्यत्व कैसे ' वह भी असम्भव है—"**तथा हि अचेतन शवशरीर कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलकार्यस्याभावात् (अभिनवगुप्त)**।"

काव्यत्व का मूल कारण अलकारत्व नही, इस तथ्य को दूसरी तरह भी कह सकते है। सच्चे कवि मे प्रतिभा होती है—"**प्रतिभैव च कवीना काव्यकरणकारणम्**" (**अलंकारतिलक**)। इसके बल पर वह [१] पदार्थ में निहित गूढ सौन्दर्य को देखता है और [२] उस असामान्य सौन्दर्य का उद्घाटन कर सर्वसाधारण तक पहुँचाता है, अर्थात् उसे प्रेषणीयता प्रदान करता है। डा० काणे ने भी लिखा है—"A poet is one who is seer, a prophet, who sees visions and possesses the additional gifts of conveying to others." (साहित्यदर्पण की भूमिका)। जब कवि गूढ सौन्दर्य का दर्शन कर चुकता है तो वही सौन्दर्य वाग्धारा-रूप मे प्रवाहित

होने लगता है। यदि सौन्दर्य की अनुभूति न हो तो प्रवाहित ही क्या किया जा सकता है—यह सर्वथा स्पष्ट है। अत काव्य के मूल मे सर्व-प्रथम सत्य, सौन्दर्य, अनुभूति या भाव ही होता है। यही काव्य का प्राण हे। इसी से काव्य मे सजीवता आती है। सद्-भाव से प्राणवान् काव्य को अलकार सजा मकते है, उसकी शोभा को बढा सकते है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि अलकार काव्य के अनित्य धर्म है।

पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि रस का उल्लेख भरत ने वाचिक अभिनय के रूप मे किया है। अत ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती कतिपय आचार्यो ने उसका सम्बन्ध नाटक तक ही सीमित समझा। अत हम देखते है कि पाँचवी-छठी शताब्दी मे भामह और दण्डी आदि जो आचार्य हुए, यद्यपि वे रस-सिद्धान्त से परिचित थे तो भी उन्होने अलकार को काव्यात्मा स्वीकार किया। यद्यपि भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र मे चार अलकारो—उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख किया है तो भी अलकारो का सर्वप्रथम वैज्ञानिक विवेचन भामह के काव्यालकार मे ही मिलता है। इस प्रकार भामह अलकार-सम्प्रदाय के आद्याचार्य हुए। परन्तु एक बात ध्यान मे रखने की है, भामह का अलकार सम्बन्धी विवेचन इतना प्रौढ है कि अलकारो के विवेचन की परम्परा इनसे पहिले की चली आती हुई प्रतीत होती है। नाट्यशास्त्र मे 'अलकार' तो है ही, भामह ने स्वय भी मेधाविन् नामक पूर्वाचार्य का सादर उल्लेख किया है। इसी प्रकार भट्टिकाव्य, जो एक व्याकरण का ग्रन्थ है, मे भी ३८ अलकारो का उल्लेख है। यह भी भामह से पहले का ग्रन्थ है। इन सब बातो से उक्त धारणा की पुष्टि सम्यक्तया होती है।

अलकार-सम्प्रदाय का इतिहास

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने अलकारो के ऊपर 'काव्यादर्श' की रचना की। दण्डी की विशेषता यह है कि उन्होने—**"काव्यशोभाकरान्**

धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते"—कहकर अलकारो को असन्दिग्ध रूप मे काव्य का शोभाविधायक माना। भामह ने ३८ अलकारो का तथा दण्डी ने ३५ का उल्लेख किया। परन्तु रसो को दोनो आचार्यों ने रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वित और समाहित नामक अलकारो के अन्तर्गत माना। यद्यपि ये आचार्य रस-सिद्धान्त से परिचित थे तो भी काव्यमात्र मे रस का उचित स्थान निर्धारित नही कर सके। उन्हे काव्य मे सबसे महत्त्वपूर्ण अलकार ही प्रतीत हुए। अत उन्होने रस को अलकारो के अन्तर्गत लाने की चेष्टा की। उनके अनुसार रसवदलकारो का कोष्ठक निम्न है —

रसवदलकार —
- [१] जहाँ रस परिलक्षित होते है वहाँ रसवदलकार होता है।
- [२] जहाँ भाव „ „ प्रेयस अलकार „ „
- [३] जहाँ { रसाभास / भावाभास } „ „ ऊर्जस्वित „ „
- [४] जहाँ { भावशान्ति / भावोदय / भावसन्धि / भावशबलता } „ „ समाहित „ „

ध्वनिवादियो ने रसवदादि अलकारो के सम्बन्ध मे यह सशोधन किया कि जहाँ रस (रस्यते इति रस इस व्युत्पत्ति के आधार पर रस, भाव, तदाभास और भावशान्त्यादि चारो रस कहाते है) किसी अन्य के अ ग रूप में प्रतीत होते है वहाँ पर ही रसादि (ध्वनि रूप न होकर) रसवदलकार के अन्तर्गत है, सर्वत्र नही। अस्तु !

भामह ने अलकार शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए रचना एव कल्पना के सौन्दर्य को काव्यात्मा कहा। उनके मत मे वक्रोक्ति (काव्यात्मक अभिव्यजना), जो अलकार के मूल मे रहती है, से रचना और कल्पना दोनो के सौन्दर्य की समृद्धि होती है—

सैवा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते,

यत्नोऽस्या कविना कार्य. कोऽलकारोऽनया विना। काव्यालकार

परन्तु भामह के विपरीत दण्डी ने वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलकार की आत्मा कहा—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहु. परायणम् ।

वागीशमहितामुक्तिमिमातिशयाह्वयाम् ॥ काव्यादर्श ॥

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि दण्डी का अतिशय और भामह की वक्रोक्ति एक ही तत्त्व के प्रतिपादक है।

भामह के मत के प्रमुख व्याख्याता उद्भट हुए। इन्होने 'भामह-विवरण" लिखा और दृष्टान्त, काव्यलिग आदि अलकारो की उद्भावना की। इसके बाद आचार्य रुद्रट् हुए। इन्होने अत्यधिक महत्त्व के कार्य किये—[१] एक तो अलकारो के वर्गीकरण की परिपाटी डाली और दूसरे [२] रस और भाव आदि को अलकारो के अन्दर ही समाहृत करने की प्रमुख भूल का निराकरण किया। इन्होने अपने समकालीन विभिन्न मतो का अच्छा अध्ययन भी किया था। ये ही सर्वप्रथम आचार्य हुए जिन्होने 'रस' का विवेचन काव्यशास्त्र के ग्रन्थो में किया। इससे पूर्व के ग्रन्थकार रस को नाटक का विषय मानकर छोड देते थे।

अलकार-सम्प्रदाय के पीछे अभी तक यह दृष्टि रही कि काव्य को चमत्कृत करने वाली सभी विशेषताओ का सग्रह किया जाए। उन विशेषताओ में परस्पर भेद करने की चेष्टा नही की गई और ना ही सूक्ष्मता से यह देखा गया कि काव्य और प्रसाधन-सामग्री का सम्बन्ध क्या है। परन्तु रुद्रट् के पश्चात् ध्वनि के आत्मा-रूप मे सामने आने पर यह स्पष्ट हो गया कि आन्तरिक गुणो और बाह्य आभूषणो में भेद होता है। इसलिए माधुर्यादि गुणो तथा उपमादि अलकारो मे भेद है। इसके साथ यह भी मालूम हो गया कि अलकारो के अन्तर्गत सभी

प्रसाधनो को समाहृत करने की चेष्टा व्यर्थ है। शब्द और अर्थ की शोभा की वृद्धि करने वाले उपाय ही अलकार हो सकते है, गुण अलकार नही। इससे पूर्व अलकारबादी गुण और अलकारो को एक ही समझते थे—
'उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणा प्रायश साम्यमेव सूचितम्।"

इस सबका परिणाम यह हुआ कि अलकारो की स्थिति के सम्बन्ध मे यह निश्चित मत कि वे काव्य के अनिवार्य अ ग नही है, स्पष्ट हो गया। और इसके बाद परवर्ती आचार्यो ने ऐसा ही सम्पुष्ट किया। आचार्य मम्मट व विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया कि अलकार काव्य के अस्थिर धर्म है। वे रस के उपकारक होकर ही महत्त्व पा सकते हैं।

अन्त मे रुय्यक ने 'अलकारसर्वस्व' की रचना की, जिसमे अलकारो के वर्गीकरण का परिष्कार करते हुए नए ढग से छ आधार ढूँढे।

हिन्दी को अलकारशास्त्र की मम्मट और विश्वनाथ वाली समन्वित परम्परा ही मिली, जिसमे इसका महत्व सर्वोपरि सुस्थिर हो चुका था। तो भी केशव-जैसे अलकारवादी हिन्दी मे मिल ही जाते है—

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन, सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजही, कविता, वनिता, मित्त॥

रीति-सम्प्रदाय

'रीति-सम्प्रदाय' के प्रमुख व्याख्याता वामन हुए है। उन्होने 'काव्यालकारसूत्र की रचना की, जिसके अनुसार 'रीति' को काव्यात्मा माना गया। रीति के स्वरूप-निर्धारक सूत्र निम्न प्रकार है—

वामन द्वारा प्रतिपादित रीति का स्वरूप और लक्षण

(i) रीतिरात्मा काव्यस्य ॥२।६॥

काव्यात्मा रीति है, अर्थात् काव्य-सौन्दर्य का मूल कारण 'रीति' है।

रीति क्या है ?

(ii) विशिष्टा पदरचना रीति ॥१।२।७॥

विशिष्ट पदरचना ही रीति (आधुनिक शब्दावली मे शैली कह सकते है) है। पदरचना मे वैशिष्ट्य कैसे आता है ?

(iii) विशेषो गुणात्मा ॥१।२ ८॥

पद-रचना का वैशिष्ट्य उसकी गुणात्मकता मे है। अत गुणात्मक पदरचना का नाम 'रीति' है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पदरचना का वैशिष्ट्य विभिन्न गुणो के सश्लेषण के आश्रित है। इसलिए गुणो की खोज भी आवश्यक है। गुणो के साथ दोषो का लेखा-जोखा लगा ही रहता है। गुणो के सम्बन्ध मे उनका मन्तव्य है—

काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा:।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा ॥

काव्य की शोभा के विधायक-धर्म 'गुण' हैं, और उस शोभा के वृद्धिकारक हेतु अलकार होते हैं। अत गुणो और अलकारो में स्पष्ट

रूप से भेद है। गुण नित्य-धर्म है और अलकार अनित्य, क्योंकि अकेले गुण पदरचना मे वैशिष्ट्य ला सकते है, परन्तु केवल अलकार नहीं।

इस प्रकार उन्होंने गुणो को नित्य मानकर शब्द और अर्थ के क्रमश दस-दस गुण बताये, शब्द-गुणो और अर्थ-गुणो के नाम एक ही है, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न— ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति। इन गुणो के विरोध मे आने वालो को दोष माना। उन्हे वे गुणो का विपर्यय कहते है– "**गुणविपर्यात्मनो दोषा**"। अर्थात् उन्होने दोषो की कोई भावात्मक स्थिति स्वीकार नही की। गुणो के अभाव को वे दोष मानते है।

रीतियाँ भी तीन है— (१) वैदर्भी (२) गौडी (३) पाञ्चाली। वामन के अनुसार वैदर्भी मे दसो गुणो का समावेश रहता है, जबकि गौडी और पाञ्चाली मे क्रमश. ओज व कान्ति और माधुर्य व सौकुमार्य इन दो-दो गुणो का महत्त्व है। रीतियो के नामकरण के विषय मे लिखते हुये वह इस शका का निवारण भी कर देते है कि प्रदेशविशेष से काव्य का वैसा सीधा कोई सम्बन्ध नही है—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात्तत्समाख्या ॥१।२।१०॥

केवल विदर्भादि देशो मे वैसी रीति का विशेषतया प्रचलन होने के कारण उस प्रकार का नाम रखा गया है। —"**विदर्भगौडपाञ्चालेषु देशेषु तत्रत्यै कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वाद्देशसमाख्या। न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।**"—**वृत्ति॥**

सक्षेपत वामनाचार्य का मन्तव्य यह है कि काव्य के सौन्दर्य का मूल कारण रीति है; और रीति पदरचना का वह प्रकार है जिसमे दोषो का अभाव, अलकारो का सामान्यतया प्रयोग और गुणो का अनिवार्यरूपेण समावेश हो। तो, वामनाचार्य का प्रधान कर्तृत्व निम्न प्रकार हुआ:—

(i) इन्होंने साहस के साथ रीति को काव्यात्मा उद्घोषित किया, और तीन रीतियाँ मानी, जो परवर्ती आचार्यों द्वारा भी स्वीकृत की गई।

(ii) इन्होंने गुणो और अलकारो मे भेद प्रतिपादित किया।

(iii) दाषो की भावात्मक मत्ता स्वीकार नही की। इसे परवर्ती आचार्यो ने अमान्य ठहराया।

(iv) वक्रोक्ति को अर्थालकारो मे शामिल किया।

(v) वामन द्वारा रीति के प्रतिपादन से स्पष्ट होता है कि उनकी पहुँच प्रधानतया काव्य के बाह्याङ्ग तक ही रही। परन्तु अन्तरङ्ग सर्वथा अछूता रहा हो, सो नही। क्योकि उन्होने अर्थ-गुण कान्ति मे रस की दीप्ति अनिवार्य मानी है— **"दीप्तरसत्व कान्तिः"** ॥३।२।१४॥

आचार्य वामन ने अपने **"काव्यालंकारसूत्र"** ग्रन्थ का प्रणयन ८वी शताब्दी मे किया। इससे यह न समझना चाहिए कि रीति-विषयक विचार का श्रीगणेश यही से प्रारम्भ होता है।

रीति-सम्प्रदाय का इतिहास

वस्तुत रीति की परम्परा रस और अलकार सम्प्रदायो की तरह ही पुरातन काल से चली आने वाली है। वामन ने तो रीति को काव्यात्मा के रूप मे स्वीकार कर प्रथम कोटि का महत्त्व प्रदान करना चाहा। 'रीङ्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर "रीति" शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ हुआ—गति, पद्धित, प्रणाली या मार्ग आदि। इस 'रीति' शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम वामन ने ही किया है, दूसरे आचार्य मार्ग आदि शब्दो द्वारा रीति का प्रतिपादन करते रहे। जैसे दण्डी ने—

अस्त्यनेको गिरा मार्ग॰ सूक्ष्मभेद परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥काव्यादर्श॥

वामन-मतानुसार गुण रीति के मूल तत्त्व । दण्डी की भी यही मान्यता थी। इन गुणो का विवेचन तो भरत के नाट्यशास्त्र मे मौजूद है, परन्तु रीति के विषय मे उन्होने कुछ भी नही लिखा। भरत की दृष्टि मे दोषाभाव रूप दस गुण होते है। इस प्रकार के दोषो के अभाव से दस गण माने, उनकी सत्ता अभावात्मक है। गुण और दोषो के सम्बन्ध मे भरत और वामन का दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत हैं। भरत दोषो को भावात्मक (Positive) मानते हुए गुणो को अभावात्मक (Negative) मानते है। जबकि वामन का मत है कि दोष अभावात्मक है और गुण भावात्मक। परन्तु विचार करने पर गुण और दोष दोनो की ही भावात्मक सत्ता मान्य ठहरती है। गुणो का अभाव होने से दोष नही गिनाये जा सकते और न ही दोषो के न होने से गुणवत्ता दीखती है। लोक मे भी गुण-दोषो, दोनो की भावात्मक सत्ता स्वीकृत है। इसी विचार से परवर्ती आचार्यों ने गुणो और दोषो दोनो को भावात्मक माना। दोषो की सख्या बढते-बढते सत्तर तक पहुँची। अस्तु'

भरत का गुण-विषयक श्लोक यह है—

श्लेष प्रसाद समता समाधिर्माधुर्यमोज. पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥

—नाट्यशास्त्र ॥

भरत ने शब्द-गुणो तथा अर्थ-गुणो की पृथकता के सम्बन्ध मे भी कोई निर्देश नही दिया। इनके बाद भामह ने रीति का उल्लेख तो किया परन्तु उसे कोई महत्त्व प्रदान नही किया। उन्होने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व प्रतिपादित करते हुए गुणो की सख्या—माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीन के ही अन्तर्गत सीमित कर दी। बाद को ये ही तीन गुण भारतीय काव्यशास्त्र मे प्रामाणिक रूप से प्रतिष्ठित हुये।

दण्डी ने रीति का विस्तृत विवेचन वैदर्भ और गौड इन दो मार्गों के रूप मे किया, पर अलकारो और गुणो मे स्पष्ट भेद न कर सके, तथा

दस गुणो को प्राय भरत के अनुकरण मे ही स्वीकार कर लिया। इसलिए भरत की तरह दण्डी का गुण-विवेचन भी अस्पष्ट ही रहा। शब्द-गुणो और अर्थ-गुणो का भेद भी इन्होने नही किया। इसके अतिरिक्त इनका यह भी ख्याल था कि वैदर्भ-मार्ग या रीति के दसो गुण मूल तत्त्व होते है, और उन गुणो का अभाव गौडीय रीति मे पाया जाता है।

वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा स्मृता ।
एषां विपयय प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।।

परन्तु दण्डी का यह विचार उचित नही, क्योकि ओज गुण वैदर्भी रीति के गद्य मे तो आवश्यक है परन्तु पद्य मे नही जबकि गौडीय मार्ग मे ओज पद्य मे भी सर्वोपरि स्थान रखता है। दण्डी ने दोषो की सख्या भी भरत की तरह दस मानी है। भामह के ग्यारहवे दोष को उन्होने अव्यक्त माना।

आचार्य वामन अपने मन्तव्य को साहस और स्पष्टता के साथ कहना जानते थे। अतएव ये स्वतन्त्र रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हो सके। भरत और दण्डी के अनुकरण का पल्ला न पकडकर इन्होने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तो को तर्क का सहारा दिया। दो की जगह तीन रीतियाँ मानी। गुण और अलकारो मे भेद कर गुणो का स्पष्ट विवेचन किया। शब्द और अर्थ के दस गुण माने, जिनका नाम दोनो जगह एक ही है, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न होता है। इस दृष्टि से वामन का कर्तृत्व क्रान्तिकारी था। उन्होने अन्य आलकारिको की तरह 'रस' को अलकारो के अन्तर्गत समाविष्ट न र अर्थ-गुण कान्ति मे रखा। यद्यपि परवर्ती आचार्यो को वामन के मत मे अनेक प्रकार की त्रुटियाँ मालूम हुईं तो भी काव्य-बाह्याङ्ग के विवेचन और स्वतन्त्र उद्भावनाएँ करने की उनकी प्रवृत्ति का लोहा स्वीकार करना ही पडता है।

वामन की तीन रीतियो के साथ रुद्रट् ने चौथी 'लाटी' रीति

को भी लाकर खड़ा किया, परन्तु इसका विशेष महत्त्व न जँचा। इसके पश्चात् ध्वनिवादियो के तर्कों ने 'अलकार्य' और 'अलकार' का स्पष्ट भेद उपस्थित कर सोचने की धारा को ही बदल दिया। अलकार्य (काव्यात्मा-रूप ध्वनि) की सर्वोपरि महत्ता स्थापित होने से रीति-सम्प्रदाय भी, अलकार-सम्प्रदाय की तरह बाह्याङ्गदर्शी-मात्र होकर **"उत्कर्षहेतव. प्रोक्ता. गुणालंकाररीतय (साहित्यदर्पण)"** के अनुसार रसोत्कर्ष के हेतुओ की कोटि मे जा पड़ा। ध्वनिवादियो ने रीति को बाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए "वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु" कहा। रीति की केवल इतनी ही उपयोगिता मानी गई कि वह रस-परिपाक में सहायक होती है। अभिनवगुप्त ने तो अलकारो और गुणो के रहते रीति की पृथक् सत्ता को ही अनावश्यक ठहराया। इसके अतिरिक्त ध्वनिवादियो ने दस गुणो के स्थान पर भामह की तरह तीन गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद—ही पर्याप्त समझे। हाँ गुणो का महत्त्व इसलिए अवश्य कायम रहा कि वे काव्यात्मा (रस) के नित्य अङ्ग माने गये।

आचार्य कुन्तक ने भी काव्य को कवि-प्रतिभा-जन्य बताते हुये रीति-विभाजन और रीतिया मे कोटि-क्रम-निर्धारण, दोनो को असगत माना। उनकी दृष्टि से रीति केवल कवि-कर्म का ढग है, और वह ढग रचना के गुणो के अनुसार दो प्रकार का — सुकुमार और विचित्र—हो सकता है। उक्त दोनो प्रकारो के चार गुण—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य—मूलतत्त्वो के रूप मे स्वीकार किये। इसके अतिरिक्त 'औचित्य' एव 'सौभाग्य' ये दो गुण तो काव्यमात्र मे होने चाहियें। कुन्तक के विवेचन में 'वदतो-व्याघात' का दोष प्रतीत होता है। जिस बात के लिए वे वामन को दोषी ठहराते है, वही दोष उनके मत में मालूम होता है।

अन्त मे सस्कृत-साहित्य-शास्त्र के समाहारवादी व्याख्याकार मम्मट और विश्वनाथ आते है। मम्मट ने वामन की तीन रीतियो को स्वीकार करते हुए उद्भट की वृत्तियो से मेल कर दिया। इसके अनुसार वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली क्रमश उपनागरिका, परुषा और कोमला ही है। इसे हम निम्न प्रकार से रखेगे —

वैदर्भी = उपनागरिका (माधुर्य-व्यञ्जक वर्णो के आश्रित)
गौडी = परुषा (ओज-व्यञ्जक वर्णो के आश्रित)
पाञ्चाली = कोमला (माधुर्य व ओज-व्यञ्जक वर्णो से भिन्न वर्णो के आश्रित)

परन्तु मम्मट ने वामन के दस गुणो की आलोचना कर उन्हे तीन गुणो के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर दिया। विश्वनाथ ने रुद्रट् की तरह चार रीतियो का प्रतिपादन किया।

रीति-सम्प्रदाय के इतिहास से स्पष्ट है कि यह काव्य के बाह्याकार या शरीर को ही सर्वस्व मानकर चला, काव्यात्मा तक इसकी वैसी पहुँच न हो सकी। इसलिए यह सम्प्रदाय दीर्घजीवी न हो सका और न ही सस्कृत-साहित्य-शास्त्र मे वह प्रतिष्ठा पा सका। ऐसी अवस्था मे हिन्दी-साहित्य मे रीति-सम्प्रदाय की परम्परा प्राप्त न हो तो कोई भी आश्चर्य नही। हाँ, हिन्दी मे 'रीति' शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है, परन्तु वह अपने ही अन्य विशिष्ट अर्थ मे। वह काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमो के विधान अथवा कविता करने की रीति सिखाने से ही सम्बद्धित है। इस प्रकार हिन्दी में 'रीति-काल', 'रीति-ग्रन्थ' और 'रीति-वादी-आचार्य' आदि जो प्रयोग होता है उसका अर्थ होता है—"काव्य-रचना सम्बन्धी नियमो की शिक्षा देने वाले लक्षणग्रन्थो की प्रधानता वाला काल", इत्यादि।

रीति-सम्प्रदाय काव्य के कलापक्ष को प्राधान्य देने वालो मे गिना जायेगा। इस दृष्टि से आलकारिको से इसकी समता है। परन्तु एक

बात से रीतिवादियो का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। आलकारिक काव्यात्मा अलकारो मे ढूंढते रहे जब कि यह स्पष्ट है कि काव्य बिना अलकारो के भी रहसकता है। रीति के आचार्यो ने काव्यात्मा गुणो मे पहिचानने की कोशिश की। और वे उसके काफी निकट पहुँच गये, परन्तु इतना फिर भी नही पहिचाना कि गुण वस्तुत किससे सम्बन्धित है। अत यह कहा जा सकता है कि रीति के आचार्यों ने काव्यात्मा ढूँढने मे अलकारवादियो की अपेक्षा अधिक प्रगति की। इसके अतिरिक्त रीतिवादियो द्वारा गुणो का विस्तृत विवेचन किये जाने फर भी वे वास्तविक 'गुणी' का पता न पा सके। गुणो का सम्बन्ध रीति से ही जोड दिया, जो वास्तव मे काव्य की बाह्याकृति ही हो सकती थी। इस भूल को ध्वनिवादियो ने 'अलकार्य' और 'अलकार' के भेद के विवेक के कारण नही दुहराया। उन्होंने काव्यात्मा रूप रस से गुणो का सम्बन्ध पहचानकर यह बताया कि शृ गार और करुण रस मे माधुर्य गुण की विशेषता रहती है, रौद्र, वीर और अद्भुत रसो में ओज मुख्य है और प्रसाद सभी रसो से सम्बन्धित है।

रीति तथा अन्य सम्प्रदायों की तुलना

———

ध्वनि-सम्प्रदाय

पश्चिम के देशो मे काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति काव्य के उत्कर्षक एव अपकर्षक नियमो का सग्रहमात्र करने की रही, उनमें परस्पर सम्बन्ध निर्धारण कर सुशृङ्खलता स्थापित करने की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया। फलत वह भारतीय काव्यशास्त्र की तरह समन्वित नही हो सका। परन्तु इधर भारतीय आचार्यो की काव्य के सम्बन्ध मे भी वही चिरपरिचित दृष्टि रही जो विविध प्रपञ्चात्मक सङ्गठनो मे एकत्व या अद्वैत की खोज किया करती है। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि दो-चार शब्दो मे काव्य का लक्षण बता देना नितान्त असम्भव है, उसके लिए तो काव्यात्मा के रूप मे काव्य के मूलभूत तत्त्व को खोजकर काव्य के शरीर और अङ्गोपाङ्गो की अन्विति ठीक से बिठानी होगी। तभी काव्यपुरुष का स्वरूप विशद रूप मे सामने आ सकता है। ईसा की आठवी शताब्दी तक भरत के नाट्यशास्त्र, भामह के काव्यालकार, उद्भट के भामहविवरण, वामन के काव्यालकारसूत्र और रुद्रट के काव्यालकार की रचना उक्त दृष्टि को लेकर ही होती रही, परन्तु रसवादियो के सिवाय अन्य आचार्य काव्यात्मा की खोज मे सफल नही कहे जा सकते, क्योकि अलकार तथा रीतिवादी आचार्य तो स्पष्टत काव्य के बाह्याङ्गो तक ही पहुँचे, और रसवाद मे भी रमणीय फुटकर छन्दो को काव्यकोटि मे लाने के लिए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की पूरी सङ्गति न दिखा सकने के कारण, अड़चन पडती थी।

विषयोपक्रम

ऐसी अवस्था मे नवी शताब्दी मे रजानकानन्दवर्धनाचार्य ने अपने युग-प्रवर्तक ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के द्वारा ध्वनि को 'काव्यात्मा' के रूप मे प्रतिष्ठित कर काव्यपुरुष को सर्वथा सजीव रूप मे समुपस्थित कर दिया। इन्होने अपनी रोचक एव पाण्डित्यपूर्ण शैली मे निम्न कार्य सम्पन्न कर दिखाये :—

ध्वनिकार का कर्तृत्व

(*i*) काव्यात्मा रूप ध्वनि का अनुसन्धान।

(*ii*) ध्वनि के सम्बन्ध मे सम्भावित भ्रान्तियो का निराकरण।

(*iii*) पूर्वप्रचलित रस, गुण, रीति और अलकार आदि मतो का ध्वनि-सिद्धान्त मे समाहार।

(*iv*) ध्वनि का मौलिक एव अप्रतर्क्य विशद विवेचन कर काव्य के एक सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता ह कि क्या ध्वनि-सिद्धान्त के एकमात्र आदिप्रवर्तक "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ के रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य ही थे ? इस सम्बन्ध मे ध्वनिकार ने प्रथम कारिका मे ही—**काव्यस्यात्मा ध्वनि-रीति बुधैर्य. समाम्नातपूर्व.** (काव्यात्मारूप ध्वनि विद्वानो के द्वारा पहले से ही प्रकाशित होती चली आई है) आदि कहकर स्वत ही स्पप्ट कर दिया है कि ध्वनि-सिद्धान्त सर्वथा नवीन नही। वह पूर्ववर्ती विद्वाना द्वारा कथित है। आगे चलकर वृत्ति में—"**सूरभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेय-मुक्ति, प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा** "—इस कथन द्वारा यह भी प्रकट कर दिया कि वे विद्वान् वैयाकरण ही हैं जिनके स्फोट-सिद्धान्त के के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त का उद्भव हुआ है। इसके साथ-साथ ध्वनि की मूल साधिका 'व्यञ्जना वृत्ति' का उल्लेख भारतीय दर्शन-ग्रन्थो मे पहले से ही होता चला आया था। इतना होने पर भी यह निर्विवाद है कि ध्वनि-सिद्धान्त का साङ्गोपाङ्ग शास्त्रीय विवेचन प्रथमत "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ द्वारा ही हुआ है।

'ध्वन्यालोक' की कारिकाओ और वृत्ति के कर्त्ता एक ही थे या अलग-अलग यह ऐतिहासिक प्रश्न अभी तक विवादास्पद है। डाक्टर बुहलर, डाक्टर डे, और डाक्टर काणे आदि ने कारिकाओ और वृत्ति को दो भिन्न व्यक्तियो की रचना माना है। इसके विपरीत डाक्टर सकरन ने दोनो को एक ही व्यक्ति की कृति सिद्ध करते हुए परम्परागत मान्यता का समर्थन किया है।

ध्वनिकार और वृत्तिकार

ध्वनि-सिद्धान्त के पुरस्कर्ता अपना गौरव इस उद्घोषणा मे मानते है कि उनका सिद्धान्त स्व-कल्पित या आविष्कृत नही अपितु "**विद्वदुपज्ञ य-मुक्ति**" (विद्वन्मतानुसारी कथन) है। विद्वानो से उनका तात्पर्य वैयाकरणो से है, जिनके स्फोट-सिद्धान्त के आधार पर इन्होने ध्वनि-सिद्धान्त का विस्तार किया। अब यहाँ पर यह देख लेना आवश्यक है कि वैयाकरणो का उक्त स्फोट-सिद्धान्त क्या है, ताकि ध्वनि सिद्धान्त के उद्गम की कहानी स्पष्ट हो जाय।

ध्वनि-सिद्धान्त का उद्-गम 'स्फोटवाद'

वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द का आश्रय आकाश है तथा उसका ग्रहण कर्णेन्द्रिय या रेडियो आदि यन्त्रविशेष के द्वारा होता है। और उसकी उत्पत्ति के तीन कारण हो सकते हैं—(१) सयोग (२) विभाग और (३) शब्द। घटा या भेरी आदि के बजने पर जो शब्द होता है वह सयोग है, क्योकि भेरी और दण्ड के सयोग से उत्पन्न हुआ है। बाँस की दो खपच्चो को फाडने से जो शब्द पैदा होता है वह दलद्वय के फटने के कारण उत्पन्न होने से बिभागज है। और मुख द्वारा जिस शब्द का उच्चारण किया जाता है वह भी सयोगज या विभागज ही है, क्योकि उसकी उत्पत्ति भी स्वरयत्र के स्वरततुओ (Vocal Chords) के सयोग और विभाग से होती है। और इस प्रकार से पैदा हुये सयोगज और विभागज 'शब्द' कर्णेन्द्रिय तक एक विशेष चक्रमयी-शब्द-तरङ्गो की शृङ्खला को पैदाकरते

हुए पहुँचते है। जिस प्रकार तालाब मे फेंका गया पत्थर चारो ओर को लहरो के वृत्तो की शृङ्खला को प्रवाहित कर देता है, उसी तरह आकाश मे पदार्थो का सयोग या विभाग चक्रमयी-शब्द-तरङ्गो की शृङ्खला को जन्म देता है। इस शृङ्खला मे आदि का प्रथम शब्द सयोगज या विभागज है और उसके बाद के सब शब्दज है। घण्टे पर मुगरी के प्रहार से जो प्रथम सयोगज शब्द पैदा होता है वह दूसरी शब्दतरङ्ग को पैदा करता है। इस दूसरी शब्दतरङ्ग से तीसरी, तीसरी से चौथी, बस यही शब्द-धारा का क्रम आकाशस्थ वायुमण्डल मे व्याप्त हो जाता है। और जहाँ कही शब्द ग्रहण करने का यत्र कर्ण आदि होता है वह सुना जाता हे। इससे यह स्पष्ट हो जाता हे कि आकाश मे अहर्निश पैदा होने वाली अनन्त शब्द-धाराओ मे आदि शब्द सयोगज या विभागज होते है और शेष सभी शब्दतरङ्ग पूर्व शब्द से पैदा होने के कारण शब्दज है। हमारे कानो मे दूरस्थ घण्टानाद का जो शब्द पडता है वह व्याप्त शब्दतरङ्गो की एक मध्य की कडी होने से शब्दज है। शब्द-श्रवण-प्रक्रिया की इस प्रगति को पारिभाषिक शब्दावली मे 'वीचि-तरङ्ग-न्याय' के द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

शब्द-श्रवण-प्रक्रिया को ध्यान से देखने से यह भी ज्ञात होता है कि चक्रमयी-शब्द-तरङ्गो की धारा हमारे कान तक जब पहुँचती है तो शब्द सुनाई देता है और जब वह आगे बढ जाती है तो सुनाई देना बन्द हो जाता है। इस अवस्था मे नैयायिक कहते है कि शब्द का नाश हो गया और वह अनित्य है। इसके विपरीत वैयाकरणो की मान्यता है कि शब्द नित्य है, वह नष्ट नही होता, उसका तिरोभावमात्र होता है। कुछ भी हो, परन्तु इतना तो उभयसम्मत है कि श्रूयमाण शब्द क्षणिक हे।

जब शब्द क्षणिक है तो कई वर्णो से मिलकर बने पद और पदो से बने वाक्यो का श्रवण कैसे सम्भव है ? क्योकि घट, पट इत्यादि पदो के उच्चारण के समय प्रत्येक वर्ण का क्रमिकरूपेण उद्भव और विनाश

होना चला जायेगा, समुदाय-रूप से पद की स्थिति कभी सम्भव नही। घट के घ् के श्रवण के समय आकार की उत्पत्ति ही नही हुई है और जब तक अ वर्ण का उच्चारण किया जायेगा तब तक घ् उत्पन्न होकर विनष्ट या तिरोभूत भी हो चुकेगा। इस प्रकार पद और वाक्य का समुदाय रूप मे जब श्रवण ही सम्भव नही तो अर्थबोध कैसे सम्भव है, वह तो दूर की बात है!

उक्त समस्या का समाधान शब्द-विज्ञान के अद्वितीय ग्रन्थ "महाभाष्य" मे पतञ्जलि मुनि ने स्फोट-सिद्धान्त की कल्पना द्वारा किया। इसके अनुसार श्रूयमाण वर्ण (वैयाकरण ध्वनि या नाद कहते हैं) अर्थ की प्रतीति कराने मे समर्थ नही, क्योकि वे आशुतर विनाशी अथवा तिरोभावी है। अर्थप्रतीति तो **"सदसदनेकवर्णावगाहिनी-पद-प्रतीति"** (विद्यमान और पहिले तिरोभूत अनेक वर्णो का ग्रहण कराने वाली जो पद-प्रतीति है वह) से होती है। और **"सदसदनेकवर्णावगाहिनी-पद-प्रतीति"** पहिले के क्रमश श्रूयमाण और विलुप्त वर्णो के अनुभव से उत्पन्न सस्कारो के साथ अन्तिम वर्ण का श्रवण करने पर होती है। इसका आशय यह हुआ कि क्षणिक वर्ग श्रोता की बुद्धि मे अपने सस्कार छोडकर तिरोभूत हो जाते हैं। इन्ही सस्कारो के बल पर पूरे पद का सकलन हो जाता है जिससे पदप्रतीति होती है। इसी पदप्रतीति से अर्थप्रतीति हो जाती है और यही सकलित-समुदाय-रूप पदप्रतीति "स्फोट" है, क्योकि इसी से अर्थ स्फुटित होता है—**"स्फुटित अर्थः यस्मात् सस्फ ट।"**

श्रूयमाण शब्द (ध्वनि या नाद) बुद्धि मे स्फोट (सकलित समुदाय-रूप पदप्रतीति) का जनक या अभिव्यजक है। वैयाकरणो के मत में यही स्फोटात्मक शब्द नित्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वैयाकरण **"ध्वनति इति ध्वनि·"** इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'स्फोट' को अभिव्यक्त करने वाले श्रूयमाण वर्णों को ध्वनि कहते है। इसी के साम्य से आलकारिको ने भी उन शब्द और अर्थ आदि के लिए ध्वनि

शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया जो वाच्य और वाचक मे भिन्न व्ययार्थ का बोध कराते है। आगे चलकर व्यजनावृत्ति, व्यङ्ग्यार्थ और व्यङ्ग्यप्रधान काव्य के लिए भी ध्वनि शब्द का प्रयोग होने लगा। उक्त पाँचो अर्थो मे प्रयुक्त होने के लिए ध्वनि शब्द की निम्न प्रकार व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं —

(1) "**ध्वनतीति ध्वनि**" इस व्युत्पत्ति मे जो शब्द या अर्थ व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनित करे वह ध्वनि है।

(ii) "**ध्वन्यते इति ध्वनि**" जो ध्वनित हो, अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ, वह ध्वनि हे।

(iii) "**ध्वननं ध्वनि**" इस व्युत्पत्ति से जो ध्वनन रूप व्यापार है वह व्यजनावृत्ति भी ध्वनि हुई।

(iv) "**ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनि**" इस व्युत्पत्ति से जिसमे पूर्वोक्त चार प्रकार की ध्वनि (व्यजक शब्द या अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ और व्यजना-व्यापार) हो वह काव्य भी ध्वनि कहाया।

"**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति** (काव्यात्मा ध्वनि है), ध्वनिकार का यह आदिवाक्य सम्पूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त का बीजभूत है। इसका आशय यह है कि काव्य मे मुख्यतया वाच्यार्थ का नही अपितु व्यङ्ग्यार्थ (ध्वनि) का सौन्दर्य होता है। जैसे आत्मा की स्थिति से शरीर प्राणवान् होता है वैसे ही ध्वनि की उपस्थिति से काव्य सजीव होता है। यह व्यङ्ग्य-प्रधान काव्य ही उत्तम कोटि का है अत उसे ध्वनिकाव्य कहते है। ध्वनिकाव्य का निरूपण अथवा ध्वनि का लक्षण ध्वनिकार ने निम्न प्रकार किया है —

काव्य के भेद— "ध्वनि-वाक्य"

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्त. काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

"जहाँ अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर "तमर्थ"—उस प्रतीयमान अर्थ को—अभिव्यक्त करते है उस काव्यविशेष को विद्वानो ने ध्वनि नाम से कहा है।" यहाँ पर तमर्थं का विशेष महत्त्व है। इसे पृथक् कारिका मे बडे रोचक ढग से स्पष्ट किया गया है।

ध्वनि का स्वरूप व लक्षण

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

"प्रतीयमान कुछ और ही चीज है, जो महाकवियो की वाणी मे (वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त रूप मे) रमणियो के प्रसिद्ध मुख-नासिकादि से अलग उनके लावण्य के समान भासित होता है।" इस प्रतीयमान अर्थ की विशेषताएँ भी बतायी है—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

"उस स्वादु (आस्वाद्य रूप) अर्थतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियो की वाणी उनकी अलौकिक एव प्रतिभासमान प्रतिभाविशेष को दर्शाती है।"

इस प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा जब व्यग्य (प्रतीयमान) अर्थ अधिक चमत्कारकारक हो तब ध्वनिकाव्य (उत्तमकाव्य) समझना चाहिये। ध्वनिकार ने उपसहार करते हुए ध्वनि के प्राधान्य की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद् व्यग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम्॥

उद्यो० २। का० ३३॥

"ध्वनि के सभी भेदो मे प्रधानभूत ध्वनि की जो स्फुट रूप से प्रतीति

होती है वही ध्वनि का पूर्ण लक्षण है।" व्यङ्गचार्थ की अप्रधानता होने पर काव्य मध्यम कोटि का हो जायेगा। अर्थात्

गुणीभूतव्यंग्य

वाच्यार्थ की अपेक्षा यदि व्यङ्गचार्थ गौण (कम रमणीय या समान रमणीय) हो तो मध्यम काव्य या गुणीभूत व्यङ्गच होता है।

काव्य-भेद का तीसरा प्रकार चित्रकाव्य है, इसे अधम कहा गया है। इसमे व्यङ्गचार्थ का अभाव रहता है, और अर्थचारुत्व भी नही होता। ध्वनिकार की यह उदारता ही समझनी चाहिये कि उन्होने इसे काव्य-कोटि मे स्थान दिया, अन्यथा अभिनवगुप्त और विश्वनाथ ने तो रसाभाव के कारण चित्रकाव्य को काव्य ही नही माना। इस प्रकार व्यङ्गचार्थ की सापेक्षिक प्रधानता के आधार पर ध्वनिवादियो ने काव्य के तीन भेद किये है—[१] उत्तम (ध्वनिकाव्य) [२] मध्यम (गुणीभूतव्यग्य) और [३] अधम (चित्रकाव्य)।

अधमकाव्य

और स्वय ध्वनि (ध्वन्यते इति ध्वनि) भी तीन प्रकार की है—[१] रस-ध्वनि [२] अलकार-ध्वनि और [३] वस्तु-ध्वनि। काव्य मे जब आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और सचारी के सयोग से पुष्ट होकर स्थायीभाव-रस रूप मे अभिव्यक्त होता है तब रस की निष्पत्ति होती है। जिन स्थलो पर विभावादि से रसाभिव्यक्ति बिना किसी व्यवधान के होती है वे रस-ध्वनि के उदाहरण माने जाते है। असलक्ष्यक्रमव्यग्य-ध्वनि के उदाहरणो मे काव्य के शब्दार्थ सीधे रसाभिव्यक्ति करते है। अत वहाँ रस-ध्वनि ही रहती है। परन्तु जहाँ शब्दार्थ द्वारा किसी अलकार या वस्तु की व्यञ्जना हो वहाँ क्रमश अलकार ध्वनि कही जायेगी। सलक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनि में या तो अलकार-ध्वनि होती है या वस्तु-ध्वनि। इन तीनो के क्रमश उदाहरण देखने चाहिये।

ध्वनि के तीन प्रकार

रसध्वनि का उदाहरण.—

रसध्वनि

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम: शाश्वती समा ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इन शब्दो से ऋषि के शोक की भावना सीधे करुण रस के रूप में प्रतीयमान है । इसी प्रकार—

सखी सिखावत मान विधि, सैननि बरजति बाल ।
'हरुए' कहु मो हिय बसत सदा बिहारीलाल ॥ बिहारी ॥

मान की शिक्षा देने वाली सखी के प्रति नायिका की उक्ति है । हरुए' पद से बिहारीलाल मे अनुराग सूचित होता है, जिससे सम्भोग शृङ्गार ध्वनित है ।

अलकार-ध्वनि का उदाहरण —

मैं नीर भरी दुख की बदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना ।
परिचय इतना इतिहास यही,
उमडी कल थी मिट आज चली ।
मैं नीर भरी दुख की बदली !

'मुझे नीर से भरी दुख की बदली समझ सकते हो, पर भाग्य उस बदली जैसा भी नही, क्योंकि मुझे उसकी तरह विस्तृत-नभ-प्राङ्गण रूप किसी की सुखद गोद का एक कोना भी प्राप्त न हो सका—विरहिणी जो ठहरी ।"

अलकार-ध्वनि

इस वाच्यार्थ से बदली और विरहिणी की समता ध्वनित होती है । बदली नीरभरी है तो विरहिणी अश्रुपूर्ण- और दोनो को उमडते के साथ ही (विरहिणी, उठते यौवन में ही) बरसना पडा (विरहिणी को रुदन करना पडा) । परन्तु उपमान से उपमेय की न्यूनता बताने के कारण चमत्कार बढ गया है । अत यहाँ "व्यतिरेकालकार"-रूप ध्वनि कही जायेगी ।

वस्तु-ध्वनि का उदाहरण :—

कोटि मनोज लजावन हारे, सुमुखि ! कहहु को अहहि तुम्हारे ?
सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सीय मन महँ मुसिकानी ॥

ग्राम-ललनाओ के सीधे से प्रश्न के उत्तर मे सीता जी सकोचपूर्वक मन ही मन मुसिकाने लगी । इस वाच्यार्थ मे रामचन्द्र जी का पति होना रूप वस्तु व्यग्य है ।

वस्तु-ध्वनि अलकार, वस्तु और रस-ध्वनियो में रस-ध्वनि का ही महत्त्व सर्वोपरि है, क्योकि वस्तु और अलकार कभी वाच्य भी होते है, परन्तु रस कभी वाच्य नही होता । और इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम ध्वनि-काव्य कहा है । रस-ध्वनि ही काव्य का सर्वोत्तम रूप है । यह उत्तम मे भी उत्तम है और दूसरे शब्दो मे रस ही काव्य कासर्वश्रेष्ठ तत्त्व है ।

ऊपर व्यङ्ग्यार्थ को आधार मानकर ध्वनि के भेद किये गये है । इसके अतिरिक्त व्यञ्जक (पद, वाक्यादि) की दृष्टि से भी ध्वनि के भेद किये जाते है । इस प्रकार ध्वनि के मुख्य भेद ५१ ही है, परन्तु अनेक आचार्यों ने अवान्तर और मिश्र भेदो के प्रदर्शन द्वारा यह सख्या हजारो तक पहुँचा दी है ।

ध्वनिकार ने ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध कर सामान्यतया दो मुख्य भेद बताये है—[१] अविवक्षितवाच्य और [२] विवक्षितान्य-परवाच्य ।—**अस्ति ध्वनि: । स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपर वाच्यश्चेति द्विविध सामान्येन** ॥ यहाँ इनका विवरण देख लेना आवश्यक है—

[१] *अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला ध्वनि,*—लक्षणा के आश्रित

रहने वाली इस ध्वनि मे वाच्यार्थ की विवक्षा नही रहती। वाच्यार्थ बाधित होने से अर्थप्रतीति नही कराता अपितु इस (ध्वनि) के व्यञ्जनाव्यापार मे लक्षणा-वृत्ति तथा वक्तविवक्षा आदि सहकारी होते है

अविवक्षितवाच्य ध्वनि

जिनमे लक्षणावृत्ति का ही सर्वाधिक प्रभाव होने से यह लक्षणामूला भी कहाती है। इसमें दो स्थितियाँ सम्भव है। एक मे तो वाच्चार्थ अर्थान्तर मे सक्रमित हो सकता है और दूसरी मे सर्वथा तिरस्कृत। इसलिए लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद होते हैं—[१] अर्थान्तरसक्रमितवाच्य (जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर अन्य अर्थ मे सक्रमित हो जाता है) और [२] अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य (जहाँ वाच्यार्थ सर्वथा उपेक्षित ही रहता है।)

अर्थान्तरसक्रमितवाच्य का उदाहरण निम्न है—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्वलाका घना ,
वाता शीकरिण. पयोदसुहृदामानन्दकेका. कला. ।
काम सन्तु दृढ कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्व सहे ,
वैदेही तु कथ भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

"स्निग्ध एव श्यामल कान्ति से आकाश को व्याप्त करने वाले तथा वकपवित से युक्त मेघ [भले ही उमडे], जल-बिन्दुओ से युक्त वायु [भले ही बहे] और मेघमित्र मयूरो की आनन्दभरी कूके भी चाहे जितनी [श्रवणगोचर हो], मै तो कठोर-हृदय 'राम' हूँ, सब कुछ सह लूगा। परन्तु वैदेही बिचारी की क्या दशा होगी ? हे देवि धैर्य धरो।" यहाँ पर 'राम' शब्द का सज्ञिमात्र राम-रूप-अर्थ बाधित होकर व्यग्य-धम-निष्ठ "अत्यन्त दु खसहिष्णु राम" का बोध होता है। इस प्रकार राम शब्द का वाच्यार्थ अर्थान्तर मे सक्रमित हो गय है। इसी प्रकार—

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य

सीताहरन तात ! जनि कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं 'राम', तो कुल-सहित कहहि दसानन आइ ॥

—रामचरितमानस ॥

मरणासन्न जटायु की दशा को देखकर सीताहरणकारी रावण पर क्रोधिक होने वाले राम की उक्ति है। इसका वाच्यार्थ है—"हे प्रिय बन्धु जटायु ! (स्वर्ग मे) जाकर (स्वर्गस्थ) पिता जी से सीता-हरण का समाचार मत कहना। यदि मै 'राम' हूँ तो रावण स्वय ही कुलसहित आकर कह देगा।" यहाँ भी मुख्यार्थ बाधित होकर "खरदूषणादि को मारने वाला वीर राम" यह लक्ष्यार्थ ज्ञात होता है। राम रूप मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग न होकर 'वीर-राम' इस विशिष्ट अर्थ मे सक्रमण हो गया है। अजहत्स्वार्था लक्षणा व्यापार के प्रभाव से व्यञ्जनावृत्ति द्वारा प्रयोजनरूप व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है। वह है—राम की वीरता का आधिक्य।

अब अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण भी देखिये —

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डल ।
निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

"सूर्य मे जिसकी शोभा सक्रान्त हो गई है (क्योकि हेमन्त ऋतु मे सूर्य भगवान् चन्द्रमा की तरह अनुष्ण और आह्लादमय हो जाते है) और तुषार से घिरे मण्डल वाला चन्द्रमा, निश्वास से अन्धे (मलिन) दर्पण के समान, प्रकाशित नही होता।" यहाँ पर 'अन्ध' शब्द का वाच्यार्थ 'नेत्रहीन' है जो दर्पण मे अनुपपन्न होने से बाधित है। तब प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था लक्षणा से 'अन्ध' का लक्ष्यार्थ हुआ 'पदार्थों को प्रकाशित करने ने अशक्त' और व्यग्यार्थ रूप प्रयोजन हुआ 'अप्रकाशितत्वातिशय'। इस प्रकार अन्ध शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

[२] *विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूला ध्वनि)*—इसमे वाच्यार्थ विवक्षित रहने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है। यह स्पष्टतया अभिधाशक्ति के आश्रित है।

विवक्षितान्यपरवाच्य

इसके दो भेद है—[१] असलक्ष्यक्रमध्वनि और [२] सलक्ष्यक्रमध्वनि । अभिधामूला ध्वनि मे वाच्यार्थ की अपनी सत्ता अवश्य होती है परतु अन्तत वह व्यङ्ग्यार्थ का ही साधक होता है । वाच्यार्थप्रतीति और व्यग्यार्थप्रतीति मे पूर्वापर क्रम भी अवश्य रहता है, परन्तु जहाँ पर क्रम होने पर भी लक्षित न हो वहाँ असलक्ष्यक्रमध्वनि होती है। जिस प्रकार शतपत्रो को सुई से भेदन करने पर पत्रो के भेदन के क्रम की प्रतीति नही होती उसी तरह व्यग्यार्थ (रस) की प्रतीति मे क्रम अलक्षित रहता है। इसे शत-पत्र-भेद-न्याय कहते है। असलक्ष्यक्रमव्यग्य के अन्तर्गत समस्त रस-प्रपञ्च (अर्थात् रस, भाव, तदाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलतारूप आस्वाद प्रधान ध्वनि) आ जाता है। इसके उद्रेक की उत्कटता के कारण क्रम की प्रतीति नही होती।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि के जो दो भेद किये गये थे वे वाच्यार्थ की प्रतीति के स्वरूप के भेद के कारण थे, परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के

असंलक्ष्यक्रमध्वनि

दोनो भेद व्यञ्जनावृत्ति के स्वरूप के भेद के कारण है। प्रथम असलक्ष्यक्रमध्वनि (रस-ध्वनि) के उदाहरण देखने चाहिये :—

शिखरिणि क नु नाम कियच्चिरं, किमभिधानमसावकरोत्तप. ।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं, दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥

"हे सुमुखि ! इस शुकशावक ने किस पर्वत पर, कितनी देर कौन-सा तप किया है जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान लाल-लाल बिम्ब-फल को काट रहा है ?" इस वाच्यार्थ के साथ-साथ दूसरा यह अर्थ भी

प्रकाशित होता है कि 'उचित तारुण्यकाल में तुम्हारे अधरारुण्यलाभ से गर्वित बिम्बफल का तुम्हें ही लक्ष्य करके रसास्वादन करना पुण्यातिशायलभ्य फल है, और इसकी प्राप्ति के लिए जो आवश्यक तपश्चर्या है उसे करने के लिए अनुरागी वक्ता तैयार है।' यहाँ पर व्यञ्जना वृत्ति से फल की पुण्यातिशयलभ्यता और तत्सम्बन्धी अनुरागी का स्वाभिप्राय-स्थापन ये दोनो बातें प्रकट होती हैं। कुल मिलाकर विप्रलम्भ-शृगार व्यग्य है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्पष्ट है कि शब्द और वाच्यार्थ का महत्त्व नही है, अत वे गौण है। व्यञ्जना वृत्ति से प्रकट होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होने से यह ध्वनिकाव्य (उत्तम) है। परन्तु 'मुख्यार्थ का बाध' जैसी कोई चीज भी नही है, अत यह लक्षणामूलक ध्वनि न होकर अभिधामूलक है। उसमें भी शृगार रस के उद्रेक की उत्कटता के कारण वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ की प्रतीति में जो क्रम है वह भी लक्षित नही होता। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि उक्त काव्य, 'रस-ध्वनि' (विप्रलम्भ-शृगार) की प्रधानता होने से, असलक्ष्यक्रम-व्यग्य ध्वनि का उदाहरण है।

इसी प्रकार निम्न हिन्दी उदाहरण मे —

देखन मिषु मृग विहग तरु, फिरै बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढी प्रीति न थोरि॥

—रामचरितमानस

वाच्यार्थ है—[जनकपुरी की वाटिका में गौरीपूजन के लिए आई हुई सीता जी और रामचन्द्र जी के पूर्वमिलन के समय का प्रसग है] सीता जी पशु-पक्षी तथा वृक्षो को देखने के बहाने उस तरफ बार-बार आती है और श्रीराम की छवि को पुन पुन देखने से अतिशय अनुराग की वृद्धि होती है।

यहाँ भी सीता जी का रामचन्द्र जी के प्रति पूर्व-अनुराग का वर्णन होने से विप्रलम्भ-शृ गार व्यग्य है। अत रस-ध्वनि का उदाहरण है।

जैसा कि ऊपर बताया है, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का दूसरा भेद सलक्ष्यक्रम ध्वनि है। इसमे वाच्यार्थ से वयग्यार्थ (अलकार और वस्तु रूप ध्वनि) की प्रतीति का क्रम उसी प्रकार स्पष्टतया लक्षित होता है जैसे घण्टे के शब्द के पश्चात् उसकी गूँज (अनुरणन या अनुस्वान)। इस ध्वनि के भी तीन भेद है—[१] शब्दशक्त्युद्भव [२] अर्थशक्त्युद्भव और [३] शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव (इस तृतीय भेद के लिए द्वितीय उद्योत की २३वी कारिका की वृत्ति देखो)।

सलक्ष्यक्रम ध्वनि और उसके तीन भेद

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का एकमात्र मूलाधार बोधक-शब्द होता है। उस शब्द के स्थान पर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने से काम नही चलता। इसके विपरीत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में शब्दपरिवर्तन के बाद भी अर्थात् पर्यायवाची शब्द के रखने पर भी व्यग्यार्थ पूर्ववत् ध्वनित होता रहता है। इनका भेद उदाहरणो द्वारा स्पष्ट हो जायेगा।

परन्तु उदाहरण प्रस्तुत करने से पूर्व एक शका का समाधान आवश्यक है। वह यह कि शब्दशक्ति के आधार पर दो अर्थों की प्रतीति श्लेष अलकार मे भी होती है। तब फिर श्लेष और शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि की विषय-व्यवस्था का क्या नियम होगा ? इसके उत्तर मे निम्न कारिका है —

श्लेष अलंकार का स्थल

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि स ॥

"जहाँ पर शब्द से अनुक्त (सक्षादसकेतित) होने पर भी शब्दशक्ति से ही आक्षिप्त—शब्दसामर्थ्य से व्यग्य—अलंकार की प्रतीति

होती है वहाँ शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है। साराश यह है कि शब्द-शक्ति से वस्तुद्वय की प्रतीति जब वाच्य रूप मे हो तो श्लेष अलकार समझना चाहिये अन्यथा शब्दशक्ति से आक्षिप्त—ध्वनित—होकर जो अलकारान्तर की प्रतीति है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का स्थल है।

निम्न उदाहरणो में वस्तुद्वय प्रकरणाभिप्रेत है अत वाच्य है। और ये उदाहरण श्लेष के ही हैं —

श्लाघ्याशेषतनु सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्या चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरि ।
बिभ्राणा मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने या स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ।।

यह श्लोक ध्वनिकार का अपना ही है। इसमें कहा गया है कि विष्णु ने जिन रुक्मिणीदेवी को अपने शरीर से उत्कृष्ट पाया वे तुम्हारी रक्षा करें। यहाँ पर विष्णु-शरीर रूप उपमान की अपेक्षा रुक्मिणी-शरीर रूप उपमेय मे आधिक्य दिखाया है, अत व्यतिरेक अलकार है। यह अलकार विष्णु के विशेषणो के द्वारा दो अर्थ करने पर सिद्ध होता है। अत कहा जा सकता है कि व्यतिरेक की छाया को पुष्ट करने वाला श्लेष है जो "स्वतनोरपश्यदधिकाम्" इस पद के कारण वाच्य ही माना जा सकता है। श्लोक का अर्थ निम्न प्रकार है —जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है (दूसरा अर्थ—सुदर्शनचक्रधारी) जिन्होने केवल चरणार-विन्द के सौन्दर्य से (दूसरा अर्थ—पादविक्षेप से) तीनो लोको को आक्रान्त किया है और जो चन्द्र-रूप से केवल नेत्र को धारण करते है (अर्थात् जिनका समग्र मुख नही अपितु एक नेत्रमात्र ही चन्द्र रूप है) ऐसे विष्णु ने अखिल देहव्यापी सौन्दर्य वाली, सर्वाङ्ग सौन्दर्य से त्रैलोक्य को विजित करने वाली और चन्द्रमा के समान सम्पूर्ण मुख वाली जिन रुक्मिणी को उचित रूप से ही अपने शरीर मे उत्कृष्ट देखा, वे तुम्हारी रक्षा करे।

एक हिन्दी उदाहरण भी देखो —

'रहिमन' पानी राखिये, बिन पानी सब सून ।
पानी गये न ऊबरे, मोती, मानस, चून ॥

यहाँ पर 'पानी' इस शब्द के तीन अर्थ क्रमश आभा, प्रतिष्ठा और जल अभिधा से प्रतीत होते है, क्योकि मोती, मानस और चून ये तीन प्राकरणिक मौजूद है। यह भी श्लेष अलकार का उदाहरण हे। ध्वनि का विषय नही। अस्तु।

अब शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण लेते है—**"अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधान फुल्लमल्लिकाधट्टलाट्टहासो महाकालः।"** इसका प्राकरणिक वाच्यार्थ है—

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि

"इसी समय वसन्तकाल का उपसहार करता हुआ, खिली हुई मल्लिकाओ (जुही) के, अट्टालिकाओ को धवलित करने वाले, हास से परिपूर्ण ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ।" इस अर्थ की प्रतीति के पश्चात् अनुस्वान (गूज) के समान वाच्यार्थ का उपमानभूत दूसरा अप्राकरणिक अर्थ भी प्रतीत होता है—"प्रलयकाल मे कृतयुगादि का उपसहार करते हुए और खिली जुही के समान अट्टहास करते हुए महाकाल शिव के समान (ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ)।" अब देखना यह है कि यहाँ पर इस द्वितीय अर्थ की प्रतीति कैसे हुई ? 'महाकाल' के दो अर्थ होते है—[१] एक रूढ़ अर्थ शिव या रुद्र और दूसरा [२] यौगिक अर्थ—दुरतिवहकाल अर्थात् ग्रीष्मकाल। यद्यपि यौगिक अर्थ की अपेक्षा रूढि अर्थ ही मुख्य माना जाता है तो भी प्रकरणानुसार अन्वित होने से 'ग्रीष्म समय' ही गृहीत होगा। अत यहाँ पर प्रकरण के हेतु से अभिधाशक्ति इसी एक अर्थ मे नियन्त्रित हो गई। जहाँ पर एकार्थ नियामक हेतु होता है, वहाँ पर अन्य अर्थों की प्रतीति न होने से श्लेष का अवकाश ही नही रहता। इस कारण द्वितीय अर्थ की प्रतीति श्लेष से तो नही हुई यह स्पष्ट हो

गया। परन्तु दूसरा अर्थ प्रतीत अवश्य होता है जिसके कारण यह गद्यखण्ड उत्तम काव्य माना गया है। इस द्वितीयार्थ की प्रतीति का कारण यह है कि श्रोता के मन मे 'महाकाल' शब्द का 'रुद्र' यह अर्थ तो सकेतित है ही। और 'महाकाल' इस शब्द के ग्रीष्म और रुद्र इन दोनो अर्थो मे जो सादृश्य है उसके सामर्थ्यवश ध्वनन व्यापार भी होता है। इस प्रकार उक्त द्वितीयार्थ सकेतग्रहमूलक और ध्वननव्यापारमूलक होने से शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहाया।

इसी प्रकार पन्त जी के 'गुञ्जन' से उद्धृत निम्न प्रार्थना मे —

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यक्त चिर नूतन !

"हे चिर अव्यक्त, चिर नवीन ज्योतिस्वरूप जीवन ! (जीवनप्रदाता प्रभो !) ससारक्षेत्र के लघुतम घास-पात पर भी जीवन (जलप्रदाता-मेघ) के समान अनुकम्पा करो।" 'जीवन' शब्द के दो अर्थ जीवन और जल होते है। प्रकरणानुसार प्रथम अर्थ मे ही अभिधा शक्ति के नियन्त्रित हो जाने से जल रूप द्वितीयार्थ वाच्य नही है अपितु विशेषणो की समान रूप से अन्विति होने के कारण दोनो अर्थों की समानता के बोध से आक्षिप्त होकर उपमा अलकार रूप द्वितीय अर्थ ध्वनित होता है। अत शब्दशक्तिमूलक अलकार ध्वनि का उदाहरण हुआ।

अब प्रकरणानुसार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण देखना चाहिये—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

"देवर्षि-मण्डल के ऐसा (पार्वती-शिव-विवाह की चर्चा और शिव

के विवाहार्थं सहमत होने की सूचना) कहने पर पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचा मुख करके लीलाकमल की पखुडियाँ गिनने लगी।" उक्त श्लोक के इस वाच्यार्थ से लज्जा नामक सचारीभावरूप

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि

अर्थान्तर ध्वनित होता है। "लीलाकमलपत्राणि गणयामास" इन शब्दो के स्थान पर पर्यायवाची अन्य शब्दो के रख देने से भी उक्त भाव ध्वनित होगा। इसलिए यह अर्थशक्तिमूलकसलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि है।

रे कपि कौन तू? अक्ष को घातक, दूत बली रघुनन्दन जी को।
को रघुनन्दन रे? त्रिसरा-खरदूषण-दूषण भूषण भू को॥
सागर कैसे तर्यो? जस गोपद, काज कहा? सिय-चोरहि देख्यो।
कैसे बँधायो? जु सुन्दरी तेरी छुई दृग सोवत पातक लेख्यो॥

—रामचन्द्रिका॥

अशोक-वाटिका को उजाडने पर मेघनाद ने हनुमान् जी को पकड़कर रावण के पास पेश किया। तत्कालीन रावण-हनुमान् के व्यङ्ग्यपूर्ण सम्वाद का यह अश है। हनुमान् जी के उत्तरो से व्यग्यार्थ ध्वनित होता है कि श्रीराम महाबलशाली प्रतिद्वन्दी है। उनका पराक्रम विश्वविदित है। पर तुम्हे अभी तक उनके बल का पता न लगा, अत तुम्हारा विनाश सन्निकट है' इत्यादि। और अनजाने मे सोती हुई पर-स्त्री के दर्शन के पातक से बदी बना हूँ, इस अर्थ के वर्णन से—"जान बूझ कर परस्त्री का अपहरण करने वाले तुम जैसे व्यक्ति का सर्वनाश अवश्यम्भावी है"—यह बात स्वत: सिद्ध होती है। अत काव्यार्थापत्ति अलकाररूप ध्वनि है। ये सभी ध्वनियाँ किसी पदविशेष के आश्रित न होने से अर्थशक्तिमूलक ही हैं।